संत

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी.ए. ऑनर्स, एम.ए-

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11

पंचकूला-134112 (हरियाणा)

फोन : 0172-2567845

मोबाइल : 9356301618

संस्करण : 2017
प्रतियाँ :

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. +91-94683 40497**
मुद्रक :

दो शब्द

तुलसी इस संसार में भाँति भाँति के लोग।
सबसे हिलमिल बैठिए नदी नाव संयोग।। —तुलसीदास

भद्र आत्माओ !

संसार में हर प्रकार के व्यक्ति होते हैं। अतः संत, साधु, महात्मा आदि भी तो व्यक्ति ही होते हैं। वे भी अनेक प्रकार के होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने संतपरिचय प्रस्तुत करके यह दर्शाया है कि संतों के चार प्रकार होते हैं। इसके पश्चात् संत कौन है? संतमहिमा, संत के लक्षण, संत तत्त्व, संतों की समाधि, संतों के जीवन के प्रेरक प्रसंगों का विशद् विवेचन किया गया है। वस्तुतः मैंने प्रस्तुत पुस्तक सच्ची लगन एवं कड़ी मेहनत के पश्चात् लिखी है। आजकल पाखण्डी संत, साधु और महात्मा बहुत मिल जाते हैं परन्तु सच्चा संत कोई बिरला ही मिलता है।

वास्तव में जिन्होंने सत्य को उपलब्ध किया है वे समर्थ होने पर और आवश्यक समझने पर दूसरे को भी सत्य का उपदेश देते हैं। यह उपदेश श्रेष्ठ अधिकारी को प्रातिम ज्ञान के रूप में दिया जाता है। यह प्रातिम ज्ञान स्वयं ही हृदय में उत्पन्न हुआ करता है। बाह्य शब्द का आश्रय लेकर इसको अन्यत्र संचारित नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ही हृदय का संशय सम्यक् प्रकार से मिट जाता है और जीवात्मा पवित्र बन जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन एवं अनुशीलन से पाठकों को सच्चे संत के विषय का ज्ञान हो जायेगा। यह पुस्तक एक खूबसूरत गुलदस्ता है जो मैंने आपकी सेवा में प्रस्तुत किया है ताकि आप इन पुष्पों को देखिए और झूम-झूम कर आनंद विभोर हो जाइए।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री जयकिशन जी, रोशन लाल अग्रवाल, सत्यपाल मोदी, नरेश बंसल आदि ने सहयोग प्रदान किया है। अतः इन मित्रों का स्तवन न करना मेरी कृतघ्नता होगी। विशेषतः श्री जयकिशन जी का जिन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन, अशुद्धिशोधन और मुद्रण में विशेष योगदान दिया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन न हो पाता। जिस अचिन्त्य शक्ति प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं अपने संकल्प को मूर्तमान दे सका उसका भी कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ। मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्त्ताओं का भी अत्यंत धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने संदर्भ उद्धृत किये हैं।

मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है। परन्तु संसार का प्रत्येक व्यक्ति अल्पज्ञ और अपूर्ण है। अतः यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकों से क्षमा चाहूँगा। धन्यवाद।

धर्म पाल कपूर

तिथि : 30.4.2017

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135,
सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

निवेदन

श्री धर्मपाल कपूर जी द्वारा अनेक पुस्तकों को प्रकाशित करवा निःशुल्क वितरण किया जा चुका है। ये बड़ी लगन और कर्त्तव्य निष्ठा के साथ पुस्तकों के विषयों का चयन करते हैं और सद्ग्रंथों का स्वाध्याय करके उनमें से शिक्षाप्रद प्रसंगों का चयन करके अपनी पुस्तक में स्थान देते हैं। स्वाध्याय से ही ज्ञान बढ़ता है। इसका एक लाभ यह होता है कि अनेक पुस्तकों को पढ़ने के स्थान पर एक पुस्तक में से ही महत्त्वपूर्ण ज्ञानवर्धक सामग्री प्राप्त हो जाती है। श्री धर्मपाल कपूर जी की पुस्तकों में अनेकों पुस्तकों से सामग्री संकलित की जाती है, इससे पुस्तक बड़ी ज्ञानवर्धक बन जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने संत के आचरण और उसके प्रभाव पर प्रकाश डाला है। संत प्रथा तो आदि काल से चलती आ रही है। स्वायंभुव मनु के पुत्र उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव को भी संत अथवा भक्त की परम्परा में ही रखा गया है। वास्तव में, वेदों के जानने वाले मर्मज्ञों को भी संत की उपाधि से ही अलंकृत किया गया है। इसके बाद के ऋषियों जैसे याज्ञवल्क्य, जनक, विश्वामित्र, विशिष्ट तथा वेदव्यास जैसे महाविद्वानों को भी संत परम्परा में ही गिना जाता है।

इनके अतिरिक्त वर्तमान युग के तुलसी, सूरदास, मीरा, जायसी, पलटू दास, रविदास आदि को भी संत की परम्परा में माना गया है। वस्तुतः, आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति को ही संत की परिभाषा में रखा गया है। जो समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझता है ऐसा व्यक्ति ही संत की श्रेणी में आता है। वास्तव में अपने आत्मा में परमात्मा के दर्शन करने वाला व्यक्ति ही संत कहलाने का अधिकारी होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में संत की परिभाषा, संतों के प्रकार, संत कौन है तथा संत की प्राप्ति के साधन क्या हैं? आदि के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त संत की महिमा को भी दर्शाया गया है। वस्तुतः संत पुरुषों की क्रियाएं किसी अज्ञात उद्देश्य से बड़ी विलक्षण हुआ करती हैं, उनकी क्रियाओं से उनकी स्थिति का

पता लगाना बहुत ही कठिन होता है । तथापि आजकल के जमाने में जहाँ लोग नाना प्रकार से ठगे जा रहे हैं, विशेष सावधानी रखना ही उत्तम है । श्रद्धा और सेवा करके सत्संग करना चाहिये और जिन संत पुरुष के संग से अपने में दैवी सम्पदा की वृद्धि, भगवान् की ओर चित्तवृत्तियों का प्रवाह, शान्ति और आनन्द की वृद्धि प्रतीत हो, उन्हीं को संत मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये । वेद की ऋचाओं में ईश्वर की प्राप्ति के लिये अनेक दृष्टांतों का वर्णन किया गया है । इसी प्रकार संतों के दिव्य दृष्टांत भी हमें आज सुनने को मिल जाते हैं ।

अतः पुस्तक की रचना में लेखक के मन-मस्तिष्क पर पड़े भिन्न-भिन्न प्रभावों का प्रतिबिम्ब स्वतः ही स्पष्ट हो रहा है । संतों की शिक्षाओं के माध्यम से वे एक बड़ी शिक्षा अपने पाठकों को भी देना चाहते हैं । इसी कारण उन्होंने संतों के प्रेरकप्रसंगों को भी अपनी रचना में विशेष स्थान दिया है । संत के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने कहा है कि–

कामनाओं की निःशेष निवृत्ति ही संत का लक्षण है

अतः हम कह सकते हैं कि लेखक ने संतों के प्रति उठी उपेक्षा को दूर करते हुए संतों के हृदय को वेद की उक्तियों से जोड़ कर उनके विशाल हृदय में समस्त मानव जाति के प्रति सम् भाव को व्यक्त करने में वे पूर्ण रूप से सफल रहे हैं । मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार साहित्यसृजन करते रहें जिससे पाठकों को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त होता रहे । मैं ईश्वर से उनके अच्छे स्वास्थ्य की कामना करता हूँ ।

जय किशन
(स्नातकोत्तर हिन्दी)
गांव कोट, जिला पंचकूला
हरियाणा-134118
मो० : 9468340497

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मो० : 9356301618

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	संत	1
2.	संतों के प्रकार	9
3.	संत कौन है?	12
4.	संतभाव की प्राप्ति के साधन	21
5.	संतमहिमा	29
6.	वेद में संत	53
7.	संतलक्षण	56
8.	संततत्त्व	61
9.	संतों की समाधि	71
10.	संतों के जीवन के प्रेरक प्रसंग	75

1. संत

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ।
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुःख द्रवहि संत सुपुनीता । ।

124(ख) 11/4

तुलसीदास कृत रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड)

संतों का हृदय मक्खन के समान होता है, ऐसा कवियों ने कहा है, परन्तु उन्होंने सत्य को नहीं जाना, लेखक की यह उपमा उचित नहीं है । क्योंकि मक्खन तो ताप के प्राप्त होने पर पिघल जाता है । परन्तु इसके विपरीत परम पवित्र एवं सच्चे संत तो दूसरों के दुःख को देखने से ही द्रवित हो जाते हैं ।

संत की परिभाषा

बाग़ में बहार आती है पसंद आने के बाद ।
जीवन में बहार आती है संत आने के बाद । ।

—मुनि श्री तरुण सागर जी

संस्कृत में सत् शब्द का अर्थ है सच्चा । परन्तु इसका प्रयोग प्रायः अच्छा शब्द के स्थान पर होता है । इसी शब्द का बहुवचन सन्त है जोकि हिन्दी में संत रूप में प्रचलित है । संत, सज्जन, साधु, सत्पुरुष, भक्त आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । अतः जिसमें पौरषव्य नहीं वह पुरुष कैसा? जिसमें लज्जा नहीं वह स्त्री कैसी? जिसमें सुगंध नहीं वह पुष्प कैसा? जिसमें प्रकाश नहीं वह सूर्य कैसा? जिसमें शीतलता नहीं वह चन्द्रमा कैसा? जिसमें अनन्तता नहीं वह आकाश कैसा? जिसमें उष्णता वह अग्नि कैसी? जिसमें आर्द्रता नहीं वह जल कैसा? जिसमें वैराग्य नहीं वह सन्यासी कैसा और जिसमें उदारता व दया नहीं वह संत कैसा?

संत किसे कहते हैं ?

संत जीवन का वास्तविक आदर्श क्या है और बाह्य तथा आभ्यांतरिक किन-किन लक्षणों द्वारा संत भाव का यथार्थ परिचय प्राप्त हो सकता है। संसार-ताप से तप्त मनुष्य नित्य आनन्द एवं पराशक्ति की स्निग्ध छाया में विश्राम करने के लिए सदा से ही लालायित है, परन्तु प्रवृत्ति की ताड़ना और बाह्य वासना प्रशान्त हुए बिना चित्त अन्तर्मुख नहीं होता और इसलिए शांति की आकांक्षा होने पर भी बाह्य मोह से वह आकांक्षा ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो सकती। जब सांसारिक भोगों में वैराग्य होता है और चित्त निवृत्तिमुखी होकर अन्तर्जगत् के तत्त्व की खोज में व्यग्र हो उठता हैं तब इस जगत् के रहस्य को खोलने के लिये पथप्रदर्शक संत के अन्वेषण के लिये व्याकुलता होती है। इस अवस्था में संत का परिचय और संत के लक्षणों को जानने के लिये हृदय में स्वाभाविक ही तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह किसी देश विशेष अथवा कालविशेष की बात नहीं है। प्रकृति के नियमानुसार सर्वदा और सभी देशों में ऐसा हुआ करता है।

हम लोग बाहरी बातों को देखकर अथवा बाहरी व्यवहारों पर विचार कर एक साधारण व्यक्ति को भी भलीभाँति नहीं समझ सकते; क्योंकि जिन जटिल शक्तियों की प्रेरणा से मनुष्य किसी कार्यविशेष को करता है अथवा करने को बाध्य होता है उनका स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझे बिना कार्य अथवा आचरण के नैतिक दायित्व के विषय में निर्णय करना सम्भव नहीं होता। साधारण व्यक्ति स्थूल अभिनिवेश में बंधा होने के कारण उसके कार्य का विस्तार क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है परन्तु जो महापुरुष हैं उन पर अलक्ष्य शक्तिपुंज का प्रभाव और भी अधिक व्यापक रूप

से पड़ा करता है। अतएव उनको ठीक-ठीक समझ सकना और भी अधिक दुःसाध्य है। इसीलिए हमारे शास्त्रकारों ने लोकोत्तर महापुरुषों के आचरण का जनसाधारण के लिए अनुकरण करना सिद्धान्त नहीं बतलाया। जिस निगूढ़ उद्देश्य की सिद्धि के लिये एक महापुरुष किसी विशेष कार्य को करता है। उस कार्य के अनुकरण करने की चेष्टा करना एक क्षुद्रशक्ति अल्पज्ञ प्राकृत मनुष्य के लिये उपहासस्पद और हानिकारक ही होता है।

अतःएव संतपरिचय कोई सहज बात नहीं है। जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है, जो स्वयं संतभाव पर आरूढ़ होने लगे हैं वे अवश्य ही अपनी स्वाभाविक विवेकशक्ति के द्वारा असत् से सत् को अलग करके ग्रहण कर सकते हैं। उनके लिये लक्षणनिर्देश अथवा स्वरूपवर्णन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु साधारण मनुष्य के लिये वैसे परिचय की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती हैं जिनका आश्रय लेकर हम अन्धकार से ज्योतिर्मय राज्य में प्रवेश करना और सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे यदि स्वयं वैसे आधार से सम्पन्न न हों तो उनके आश्रय से हमारी हानि के अतिरिक्त कोई इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे।

अन्धे को पकड़कर चलने वाले अन्धे का पद-पद पर पतन ही होता है।

संत किसे कहते हैं? जो सत्यस्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्ष रूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं। सत्य ही चैतनयस्वरूप है और चैतन्य ही आनन्दस्वरूप है। अतएव यह कहना नहीं होगा जो सत्य में

प्रतिष्ठित हैं वे एक तरह से सच्चिदानंद परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिये जो ब्रह्मज्ञ हैं, ब्रह्मदर्शी हैं और ब्रह्मसंस्थ हैं वे ही संत हैं। आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न। इस विषय पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है परन्तु विकल्प भूमि में भेद-अभेद सभी को अवस्था और अधिकार के अनुसार सत्य समझा जा सकता है। इसी के अनुसार जो ब्रह्म अथवा आत्मा की समस्त परिस्थितियों की साक्षात् रूप से जानकर तद्नुरूप प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं।

संत के इस प्रकार संक्षिप्त परिचय से यह बात समझ में आती है कि आत्मा या ब्रह्म के परम भाव में स्थिति प्राप्त किये बिना यथार्थ में संत पद वाच्य नहीं हुआ जा सकता। अनन्त शक्तिशालिनी, अनन्तरूपा प्रकृति के महात्म्य से बहिर्दृष्टि में संत असंत के रूप में दिखाई दिया करते हैं किन्तु इन बाह्य रूपों के द्वारा संत की सच्ची पहचान नहीं हो सकती। महापुरुषों में कोई जड़वत्, कोई उन्मत्तवत् और कोई कदाचारी पिशाच की तरह जगत् में विचरण किया करते हैं। ऐसी अवस्था में बाह्य दृष्टि से संतों के स्वरूप को पहचानना असम्भव कहा जाये तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। लौकिक व्यवहार के लिये शास्त्रों में साधुओं के लौकिक लक्षण भी बतलाये गये हैं परन्तु उनके द्वारा कार्यक्षेत्र में कहाँ तक तत्त्वनिर्णय हो सकता है इस बात को वही बतला सकते हैं जिन्होंने कभी परीक्षा की है।

संत जीव कोटि में हैं या ईश्वर कोटि में, इस बात को लेकर आलोचना करने से कोई लाभ नहीं। कोई-कोई तो संत को वस्तुतः इन दोनों ही कोटियों से मुक्त बतलाते हैं और ऐसा कहना किसी प्रकार भी असंगत नहीं है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निर्गुण परमपद में प्रतिष्ठित हैं उनको न वस्तुतः जीव ही कह सकते हैं और न ईश्वर ही। हमारे देश के कबीर आदि

निर्गुणसम्प्रदायों में संत का स्थान बहुत ऊंचा बतलाया गया है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि केवल सत्य, ज्ञान और आनन्द में स्वयं प्रतिष्ठित होना ही संतभाव का पूर्ण आदर्श नहीं है, क्योंकि दूसरे के अन्दर भी सत्य, ज्ञान और आनन्द का स्फुरण होना इसी आनन्द के अन्तर्गत है। अर्थात् जो स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित होकर भी दूसरों को सत्य में प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, नहीं कर सकता अथवा नहीं करता, वह संत का पूर्ण आदर्श नहीं है।

ज्ञान और आनन्द के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिये। प्रकारान्तर से ऐसा कहा जा सकता है कि सत्य, ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करना ही मानव जीवन का मुख्योद्देश्य नहीं है किन्तु उसे प्राप्त करके समस्त जगत् को उस सत्य, ज्ञान और आनन्द में प्रतिष्ठित कर देना—यही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परिच्छिन्नभाव से क्रमशः अपरिच्छिन्न की ओर अग्रसर होना ही महापुरुषों के जीवन का यथार्थ लक्षण है। लोकोत्तर पुरुष स्वभाव के नियमानुसार अनादिकाल से इस आदर्श का अनुसारण करते आ रहे हैं और शायद अनियत काल तक करते रहेंगे। साधारण व्यक्ति परिच्छिन्न फल की इच्छा करके कर्मक्षेत्र मं अग्रसर होता है परन्तु महापुरुष स्वाभाविक ही क्रमशः आत्मविकास अनुकूल आचरण किया करते हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारणजगत् परस्पर संश्लिष्ट होने पर भी कारण जगत् से ही स्थूल जगत् का नियंत्रण होता हैं साधारणतः महापुरुष आदि कारणजगत् से ही प्रयोजन के अनुसार स्थूलजगत् में अवतीर्ण हुआ करते हैं कहना नहीं होगा कि वास्तविक संत पुरुष एक तरह से कारण जगत् के निवासी-सरीखे प्रतीत होने पर भी वस्तुतः कारण से भी अतीत है। कारण जगत् जीव और ईश्वर की मिलनभूमि है। यहीं से ऐश्वरिक शक्ति की धारा जीव के प्रयोजन

की सिद्धि के लिये अवस्था के अनुसार प्रवाहित होती हैं संतों के ऐश्वरिक भूमि के अन्तर्गत समझने से उनको कारणजगत् के निवासी मानना पड़ता है और अनेकों कारणों से बहुत से लोग इसी को ठीक बतलाते हैं। परन्तु प्रयोजन के भी ऊर्ध्व में एकमात्र स्वभाव की प्रेरणा से ही संतों का जीवन नियमित होता है—इस दृष्टि से देखने पर संतों को वस्तुतः कारण जगत् के अन्तर्गत समझना उचित नहीं प्रतीत होता।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण सभी माया चक्र के अन्तर्गत हैं, अतएव स्वभाव में स्थित मायातीत संत को कारण जगत् के साथ संबंधित न मानना ही युक्तियुक्त है। प्रकारान्तर से संतों के जीवन में भी जब आत्मविकास है—यद्यपि वह विकास कर्मफलभेग की धारा के अनुसार नहीं होता—तब मायातीत होने पर भी वे महामाया के अन्तर्गत हैं ऐसा कहा जा सकता है और यदि एक ही पूर्ण सत्ता के स्वाभाविक स्फुरण के अंदर संत के जीवन को मान लिया जाये तो फिर स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि के विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती क्योंकि पूर्ण के अंदर सभी कुछ है और कुछ भी नहीं है।

जिन्होंने सत्य को उपलब्ध किया है वे समर्थ होने पर और आवश्यक समझने पर दूसरे को भी सत्य का उपदेश देते हैं। यह उपदेश श्रेष्ठ अधिकारी को प्रातिम ज्ञान के रूप में दिया जाता है। यह प्रातिम ज्ञान स्वयं ही हृदय में उत्पन्न हुआ करता है। यह अनौपदेशिक ज्ञान होने पर भी एक प्रकार से उपदेशरूप भी है। बाह्य शब्द का आश्रय लेकर इसको अन्यत्र संचारित नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ही हृदय का संशय सम्यक् प्रकार से मिट जाता है। मध्यम अधिकारी को वे विशुद्ध चेतन शब्द के साथ उपदेश दिया करते हैं। इस चेतन शब्द में इतना

सामर्थ्य है कि यह कानों में प्रवेश करते ही मर्म-स्थानों में प्रविष्ट हो जाता है और हृदय को असाधारण रूप से आन्दोलित कर देता है। इस शब्द को सुनने के बाद बाह्य जगत् की ओर आकर्षण नहीं रह सकता। समस्त मन, प्राण और इन्द्रियाँ एकीभूत होकर प्रबल वेग से और उद्दाम स्रोत से अन्तरात्मा के साथ मिलने के लिये दौड़ पड़ते हैं। श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनकर गोपियों का कैसा भाव होता था, इस बात को वैष्णव संतों ने अपनी पदावलियों में कविता के द्वारा संक्षेप में बतलाया है।

तन्त्रशास्त्र के मंत्रचैतन्य की व्यवस्था भी इसीलिये है क्योंकि शब्द को चेतन किये बिना उस शब्द की सहायता से परब्रह्म का साक्षात्कार नितान्त असम्भव है, क्योंकि अचेतन शब्द शब्द ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। पृथिवी के सभी सम्प्रदायों में इस शब्द-चैतन्य की बात बड़ी गम्भीरता के साथ कही गई है। शब्द चेतन होते ही कुंडलिनी शक्ति जागृत हो गई, यह कहा जा सकता है। अचेतन शब्द का बार-बार जप करने की प्रक्रिया विशेष के द्वारा बहुत परिश्रम से उसे चेतन किया जा सकता है अथवा संत इच्छा करने पर साक्षात्रूप से चेतन शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। यह मध्यम अधिकारी की बात है। अधम अधिकारी को संत लोग अचेतन शब्द के द्वारा ही उपदेश दिया करते हैं उसके साथ ही ऐसी कोई क्रिया बतला देते हैं जिसके करने से वह अचेतन शब्द क्रमशः चेतन शब्द के रूप में परिणत हो जाता है। अवस्थाविशेष में क्रियाकौशल के बिना भी दीर्घकाल के विचारादि के प्रभाव से तीव्र संघर्षवश अचेतन शब्द चेतन शब्द रूप में प्रस्फुटित हो सकता है।

नाना प्रकार के उपायों से कुण्डलिनी का जागरण हो सकता है। व्यवहारभूमि में पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के तारतम्य के अनुसार किसी के लिये साधन भक्ति, किसी के लिये श्रवण मननादि

ज्ञानमार्ग का अनुष्ठान और राजयोग का दीर्घकालव्यापी अभ्यास इस जागरण के अनुकूल साधन हुआ करता है। चित्त की शुद्धि करने वाले सभी कर्मों को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुष्ठान और ध्यानादि का निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी उपाय से हो जीव को मायिक, स्वप्न और सुषुप्ति से प्रबुद्ध होकर सत्य के मार्ग पर पदार्पण करना होगा। असार और असत्य प्रपंच से चित्त को अलग करके उसे सत्य में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। विक्षिप्त भूमि से अपनी वृत्तियों को लौटाकर एकाग्रभूमि में स्थापित करना पड़ेगा—कुण्डलिनी-चैतन्य करने का यही एकमात्र पथ है। जागति के भिन्न-भिन्न उपायों के यह एक ही मार्ग दृष्टिगोचर होता है।

जब तक कुण्डलिनी रूपा महाशक्ति सत्यमार्ग को ढककर घोर सुषुप्ति में निमग्न हो रही है तब तक जीव जड भाव को प्राप्त है, शिव शवरूप में निष्क्रिय होकर अवसन्न हो रहा है; तब तक मिथ्या का प्रकोप, माया का प्रलोभन और विचित्र प्रपंच की मोहिनी शक्ति प्रकट होती ही रहेगी। कुण्डलिनी के जागते ही जीव की घेर निद्रा टूट जाती है और वह अपने स्वरूप-दर्शन में समर्थ होता हैं पूर्ण जागरण होने पर जीव जडत्व का परिहार कर शिवत्व को प्राप्त करता है अर्थात् उसकी अन्तर्निहित महाशक्ति जागृत होकर नित्य जागृत पर शिव के साथ मिलने के लिये दौड़ चलती है। अवश्य ही शिवशक्ति के इस मिलन की पूर्णता के लिये दीर्घकाल की आवश्यकता है। एक दृष्टि से आत्मदर्शन हुए बिना इस मिलन का सूत्रपात ही नहीं होता।

2. संतों के प्रकार

एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।।

—रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) 86.1

श्रीराम काकभुशुण्डि को उपदेश देते हुये कहते हैं कि एक पिता के बहुत से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरण वाले होते है। कोई पंडित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूरवीर और कोई दानी होता है।

वस्तुतः इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति बेजोड़ एवं बेमिसाल है। यहाँ तक कि दो व्यक्तियों के अंगूठे के निशान तक नहीं मिलते हैं तभी तो वसीयतनामा पर कोर्ट में अंगूठा लगाते हैं इस विभिन्नता एवं विषमता के कारण संतों के मुख्यतः निम्नलिखित चार प्रकार हैं—

1. पेट वाले संत :

भूखे भजन न होय गोपाला, यह रखी तेरी कंठीमाला। —कबीर

आवश्यकताएं तो शरीर की होती है और इच्छाएँ मन की होती हैं। परन्तु इच्छाएं कभी भी किसी भी व्यक्ति की पूरी नहीं होती है क्योंकि इच्छाएँ अनन्त हैं और व्यक्ति के पास समय व साधन सीमित हैं। परन्तु संसार में करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आधारभूत आवश्यकताएँ रोटी, कपड़ा और मकान भी पूरी नहीं होती है। जब कोई व्यक्ति भूखा मरता है और उसे जीवन जीने का कोई और मार्ग नजर नहीं आता तो वह भगवे वस्त्र धारण करता है और संत बन जाता है। वह शरीर से संत बन जाता है। परन्तु मन उसका संसार में ही रमा रहता है। ऐसे संत ढोंगी व पाखण्डी होते हैं। वे समाज पर बोझ होते हैं क्योंकि वे स्वयं तो अपनी रोजी रोटी नहीं कमाते हैं। संसार में ऐसे संत की संख्या अत्यधिक होती है। वे

साधु न होकर स्वादु होते हैं । इनके विषय में कबीर जी लिखते हैं–

साधू भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार ।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भँगार । ।

2. चपटे वाले संत :

जिस व्यक्ति का व्यापार फेल हो गया हो या उसकी पत्नी का निधन हो गया है । इस प्रकार जिस व्यक्ति को बहुत व्यक्तिगत दुःख हो । ऐसा व्यक्ति दुःख को भुलाने के लिए संत बन जाता है । जैसे तुलसी दास लिखते हैं–

नारी मुई सम्पति नासी, मुंड मंडाई होहि संन्यासी

–रामचरितमानस

इस प्रकार के संत भी पाखण्डी होते हैं और ऐसे संतों की संख्या भी विश्व में अत्यधिक है ।

3. ठेठ वाले संत :

जो व्यक्ति परमात्मा, आत्मा के ज्ञान के जिज्ञासु हों जिनमें अध्यात्मवाद की भूख हो उस व्यक्ति को ठेठ वाले संत कहा जाता है । ऐसे संतों की भी विश्व में काफी कमी है ।

4. लपटे वाले संत :

जिस व्यक्ति ने पूर्णतः परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है उसे लपटे वाले संत कहा जाता है । परन्तु ऐसे संत संसार में बिरले ही होते हैं और उनके दर्शन भी अत्यंत दुर्लभ होते हैं । वस्तुतः ऐसे संत एवं सैनिक ही राष्ट्र के सच्चे रक्षक एवं हितैषी होते हैं । वे प्रभु कृपा और बड़े भाग्य से मिलते हैं जैसे रामचरितमानस में विभीषण हनुमान से कहते हैं–

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता । ।

–रामचरितमानस (सुन्दरकांड) 6.2

इस श्रेणी में कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, गुरुनानक, महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद, रामतीर्थ, परमहंस जैन संत अादि आते हैं। ऐसे संत मोहमाया से दूर होते हैं। जैसे कबीर ने लिखा है–

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।

धन का भूखा जो फिरे, सो तो साधु नाहिं।।

ऐसा संत मन, वचन, कर्म से एक होते हैं क्योंकि उनकी कथनी करनी, चर्चा-चर्या उच्चारण-आचरण एक होते हैं और ऐसे संतों का ही जनता पर प्रभाव पड़ता है। वे वस्तुतः संसार के कल्याण के लिये आते हैं। उनका जीवन परोपकार के लिये होता है। कबीर जी के निम्नलिखित दोहों में ऐसे सच्चे संत का वर्णन किया गया है–

1. **बृच्छ कबहु नहि फल भखे, नदी न संचे नीर।**
   परमारथ के कारने, साधन धरा सरीर।।
2. **सुख देवैं दुख को हरैं, दर करैं अपराध।**
   कह कबीर वे कब मिलै, परम सनेही साध।
3. **साधू सोई जानिये, चलै साधु की चाल।**
   परमारथ राता रहै, बोलै वचन रसाल।।
4. **तीरथ जाये एक फल, साध मिले फल चारि।**
   सतगुरु मिले अनेक फल, कहै कबीर विचारि।।

ऐसे ही संतों के चरणों के स्पर्श के बारे में कहा गया है। क्योंकि ऐसे संतों के चरण स्पर्श से ही व्यक्ति के आचरण में बदलाव आ जाता है। ये पूजनीय और अनुसरणीय होते हैं। वे अपने चरित्र के प्रभाव से लोगों की दिनचर्या को बदल देते हैं। जैसे एक कवि के शब्दों में–

निर्धन धनवान से डरता है। निर्बल बलवान से डरता है।

मूर्ख विद्वान से डरता है। परन्तु चरित्रवान से ये सभी डरते हैं।।

3. संत कौन है?

योगिराज श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्तों के निम्नलिखित 40 लक्षण बतायें हैं । ये लक्षण जिन पुरुषों में है वे ही संत हैं । इन्हीं का कुछ न्यूनाधिक रूप से गुणातीत और स्थितप्रज्ञ आदि नामों से गीता में वर्णन है ।

1. किसी भी जीव से द्वेष न करना ।
2. सबके साथ मैत्री भाव रखना ।
3. बिना किसी भेदभाव के दुःखी जीवों पर दया करना ।
4. प्रभु के अतिरिक्त किसी वस्तु में 'मेरापन' न रहना ।
5. शरीर-मन-वाणी में कहीं 'मैं पन' न होना ।
6. सुख-दुःख में सम्बुद्धि रहना ।
7. अपना बुरा करने वाले के प्रति, उसे दण्ड देने की सामर्थ्य होने पर भी चित्त में क्रोध न करना और प्रभु से उसका भला चाहना ।
8. अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु या स्थिति की प्राप्ति में सन्तुष्ट रहना ।
9. चित्त का निरन्तर प्रभु के साथ योगयुक्त रहना ।
10. मन इन्द्रियों को जीत लेना ।
11. परमात्मा में दृढ़ निश्चय होना ।
12. मन और बुद्धि को सर्वभाव से प्रभु के अर्पण कर देना ।
13. अपने किसी भी आचरण से किसी भी जीव को दुःखी न करना ।
14. किसी के द्वारा कैसे भी व्यवहार की प्राप्ति होने पर कभी दुःखी न होना ।

15. सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में हर्ष न मानना ।
16. दूसरे की उन्नति में डाह न होना ।
17. प्रभु को नित्य समझकर सदा निर्भय रहना ।
18. किसी भी अवस्था में अशान्त न होना ।
19. किसी भी वस्तु की अपेक्षा न होना ।
20. मन, वाणी, शरीर से पवित्र रहना ।
21. अहित के त्याग और हित के ग्रहण में चतुर होना ।
22. सबसे उदासीन – निरपेक्ष रहना ।
23. मानसिक व्यथा का सर्वथा अभाव ।
24. आसक्ति और कर्तापन के अभिमान से कोई भी आरम्भ न करना । सब कर्मों का आरम्भ प्रभु की लीला से होता है, ऐसा मानना ।
25. अनुकूल की प्राप्ति और प्रतिकूल के विनाश में हर्ष न होना ।
26. प्रतिकूल की प्राप्ति और अनुकूल के विनाश में द्वेष न होना ।
27. किसी भी स्थिति में शोक न होना ।
28. किसी भी वस्तु की इच्छा न होना ।
29. शुभ और अशुभ कर्मों का फल त्याग कर देना ।
30. शत्रु मित्र में समभाव रखना ।
31. मानापमान में समानभाव रखना ।
32. सर्दी-गर्मी में समबुद्धि रखना ।
33. सुख-दुःख को समान समझना ।
34. किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रहना ।
35. निन्दा-स्तुति का समान समझना ।

36. वाणी से सत्-चर्चा के अतिरिक्त और कोई बात न करना, मन से सदा प्रभु के स्वरूप का मनन करते रहना।

37. शरीरनिर्वाह के लिये जो कुछ भी मिल जाये, उसी में सन्तुष्ट रहना।

38. घर-द्वार को अपना न मानना।

39. सदा प्रभु में स्थिरबुद्धि रहना।

40. श्रद्धा और तत्परता के साथ भागवत धर्म रूपी अमृत का सदा सेवन करना।

ये सब गुण सिद्ध संत में स्वाभाविक होते हैं और साधक इनको प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा रहता है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि संत में इतने ही परिमितसंख्यक गुण हैं। सत्यस्वरूप परमात्मा में नित्य स्थित होने के कारण संत की अंदर-बाहर की प्रत्येक चेष्टा और क्रिया एक-एक सद्गुण और सदाचार ही है। वस्तुतः संत सद्गुणों के भण्डार होते हैं, उपयुक्त 40 गुण उन अनन्त सद्गुणों के साररूप बतलाये गये हैं।

संतों के हृदय में पाप ताप के लिए स्थान नहीं है, उनके आचरणों में किसी प्रकार का भी दोष नहीं आ सकता। अज्ञान, असत्य, दम्भ, कपट, स्तेय, व्यभिचार आदि दुराचार उनके समीप भी नहीं रह पाते। उनका सरल जीवन सर्वथा सदाचारमय, दिव्य आदर्श गुणों से युक्त, सबको सुख पहुँचाने वाला तथा सबका हित करने वाला होता है। वे जहाँ रहते हैं, जहां विचरते हैं, वहीं मंगल सन्देश देते हैं, मंगलमय वायुमण्डल तैयार करते हैं और सबको मंगलमय बना देते हैं। जैसे कबीर जी लिखते हैं–

साधु बड़े परमारथी, धन ज्यों बरसे आप।
तपन बुझावै और की अपनी बरसे आप।।

संतों की पहचान :

यद्यपि संत के लिये शास्त्रों में इस प्रकार के अनेकों लक्षणों का निर्देश मिलता है तथापि वस्तुतः संत समस्त लक्षणों से ऊपर उठे हुए हैं । किसी भी लक्षण के द्वारा कोई भी विषयी पुरुष संत को कभी नहीं पहचान सकता । प्रथम तो जिसने जिस वस्तु की उपलब्धि ही नहीं की, वह केवल उसका नाम सुनकर ही कैसे उसके असली नकली होने का निर्णय कर सकता है? जिसने हीरा देखा ही नहीं, वह हीरे और काँच के अन्तर को कैसे समझ सकता है? संतों के लक्षणों में कई तो ऐसे हैं, जो स्वसंवेद्य हैं और कई ऐसे हैं जिनके स्वरूप का यथार्थ निर्णय स्वयं उनका आचरण करने वाले केवल अनुभवी पुरुष ही कर सकते हैं, विषयी पुरुष अपनी विविध दोषमयी, विषयासक्ति से भ्रमित और मोह से आवृत मलिन बुद्धि के तराजूपर उनको नहीं तोल सकता । वह जिस बात को अपनी विपरीत और अज्ञानभरी दृष्टि से दोष समझेगा, सम्भव है, वही संत का आदर्श गुण हो ।

ऑप्रेशन करते हुए डॉक्टर की क्रिया में, बच्चों और शिष्यों को वत्सलतापूर्ण हृदय से धमकाते हुए माता-पिता और सद्गुरु की शिक्षा में, और कराहते हुए रोगी को कुपथ्य न देने में अज्ञ पुरुष निर्दयता का आरोप कर सकते हैं, परन्तु क्या यह वास्तविक दया नहीं है? इसी प्रकार अन्यान्य गुणों की बातें हैं । मूर्ख मनुष्य यदि अनाज तोलने के एक बड़े काँटे के एक पलड़े पर बहुमूल्य हीरा रखकर और उसे सेर दो सेर के वजन का भी न पाकर उसको किसी काम का न समझे, तो इससे जैसे हीरे की कीमत कुछ भी कम नहीं हो जाती, इसी प्रकार असंत की मलिन बुद्धि न तो संत को पहचान सकती है और न उसके किसी निर्णय से संत का यथार्थ स्वरूपनिर्देश ही होता है ।

दूसरी बात एक यह भी है कि भोलेभाले नर-नारियों को ठगने के लिये दम्भी मनुष्य भी संतों का सा स्वाँग रचकर लोगों को धोखा दे

सकता है, बाहरी आचरण की नकल करना कोई बड़ी बात नहीं। यद्यपि सत्यचेतन और ज्ञानस्वरूप परमात्मा में नित्यस्थित लोकहितनिरत संत के बाहरी आचरणों के साथ दम्भी के संतों जैसे बनावटी आचरणों में बहुत बड़ा भेद रहता है परन्तु उस भेद को पहचानना हर एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। योगसिद्धिप्राप्त या भगवत्प्रेरित संत पुरुष ही उस महत्त्वपूर्ण भेद को जानते हैं। अतएव किसी भी बाहरी लक्षण से संत-असंत का निर्णय करना असम्भव नहीं तो कम-से-कम महान् कठिन तो अवश्य ही है। विषयी पुरुषों के लिये तो असम्भव ही है।

संतों का यथार्थ परिचय संत कृपा से ही मिल सकता है। किन्तु पहले से ही किसी-न-किसी दोष को खोज निकालने की बुरी इच्छा से, दोषारोपण हो सके, ऐसे छिद्रों को ढूंढने की नीयत से ही जो संत के पास जाता है या संत का सेवन करता है, उसको संत का यथार्थ परिचय मिलना और संतकृपा को प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धा, सेवा और जिज्ञासा से ही मनुष्य को संतकृपा की प्राप्ति हो सकती है। इतना होने पर भी अकारण कृपालु संतों का अशांत संग भी कभी व्यर्थ नहीं जाता, उस अशांत सत्संग से, जिस महान् कल्पतरु का भगवत्-प्रेम रूपी अमर फल है, उसका अक्षय बीज तो हृदयक्षेत्र में पड़ ही जाता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उगता है और फूलता फलता है।

संत किस गुप्त संकेत को पाकर कब किस प्रकार का आचरण करते हैं, इस बात को साधारण लोग नहीं समझ सकते, लोकोतर पुरुषों के कार्य भी लोकोत्तर ही हुआ करते हैं, साधारण बुद्धि से उनका समझना और अनुकरण करना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः संतों का एक भी आचरण किंचित् भी दोषयुक्त नहीं होता, वह स्वाभाविक ही सत्य ज्ञान से ओतप्रोत और लोकहित के उद्देश्य

से आचरित होता है, हम उसे अपनी अदूरगामिनी विपरीत दृष्टि के कारण ही दूषित या निन्दित मान लेते हैं ।

संत की आश्चर्य कहानी

किसी एक नगर में राजकन्या का विवाह था, मंगल के बाजे बज रहे थे । उसी नगर में एक सिद्ध महात्मा रहते थे । महात्मा बाजों की आवाज़ सुनकर राजदरबार में गये । राजा से यह मालूम होने पर कि राजकन्या का विवाह है, उन्होंने कन्या को देखना चाहा । राजा ने कन्या को बुलाया । राजकन्या ने आकर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया । महात्मा ने न मालूम किस अभिप्राय से उसको नखशिख देखकर राजा से कहा– ''इस लड़की का हमसे विवाह कर दो ।'' राजा तो सुनते ही सहम गया; बुद्धिमान् था, महल में जाकर एक जोड़ी बहुमूल्य मोती लाया, मोती का आकार मुर्गी के अंडे जितना था और उनसे शारदीय पूर्णिमा के चन्द्रमा की सी ज्योति छिटक रही थी । राजा ने नम्रता से कहा–''भगवन् ! हमारे कुल की रीति है, जो इस तरह के 108 मोतियों का हार कन्या को देता है, उसी से हम कन्या का विवाह करते हैं ।'' महात्मा ने निर्विकार चित्त से, परन्तु उत्साह से कहा–''हाँ, हाँ तुम्हारी कुल की प्रथा तो पूरी होनी ही चाहिए । ये दोनों मोती के दाने मुझे दे दो, इसी नमूने के 108 मोती में लाता हूँ । परन्तु सावधान, तब तक लड़की की किसी दूसरे से शादी न करना । राजा ने सोचा था, महात्मा मोती की बात सुनकर निराश हो लौट जायेंगे, परन्तु यहाँ तो दूसरी ही बात हो गई । राजा जानता था, महात्मा ऊँचे दर्जे के सिद्ध पुरुष हैं, उनकी आज्ञा न मानने से अमंगल हो सकता है, अतएव राजा ने दोनों मोती उनको दे दिये और कहा कि भगवन् ! 'आगे लग्न नहीं है आप जल्दी लौटियेगा ।' राजा ने सोचा, 'ऐसे मोती कहीं मिलेंगे नहीं, महात्मा

सच्चे पुरुष हैं, लौट ही आयेंगे, तब लड़की का विवाह निर्दिष्ट राजकुमार के साथ कर दिया जायेगा ।' राजा ने विवाह स्थगित कर दिया । महात्मा मोती के दाने झोली में डाल कर चल दिये ।

तीन दिन हो गये । महात्मा सागर के किनारे बैठे कमण्ड भर-भर सागर का जल बाहर उलीच रहे हैं । उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी स्मरण नहीं है । न थकावट है, न विषाद है, न निराशा है, न विराम है । एक लगन से कार्य चल रहा है । महात्मा की अमोघ क्रिया से प्रकृति में हलचल मची । अन्तर्जगत में क्षोभ उत्पन्न हो गया । समुद्रदेव ब्राह्मण का रूप धरकर बाहर आये । पूछा, 'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं?' समाधि से जगे हुए की भाँति उनकी ओर देखकर सहज सरलता से महात्मा बोले—'108 मोती के दाने चाहिये । सागर में पानी नहीं रहेगा, तब मोती मिल जायेंगे ।' ब्राह्मण ने कहा—सागर क्या इसी तरह से और इतनी जल्दी बिना पानी का हो जायेगा?

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं हो जाएगा? पानी तो उलीच ही रहे हैं, दो दिन आगे-पीछे होगा । अपने को कौन-सी जल्दी पड़ी है?

'अगर सागर आपको मोती दे दे तो?'

'तो फिर क्या हमारा सागर से कोई बैर है जो हम उसे बिना पानी का बनायेंगे ।'

'अच्छा तो लीजिये ।'

सागर की एक तरंग आई और मोतियों का ढेर लग गया । महात्मा ने झोली से दोनों मोती निकाले । उनसे ठीक मिला-मिलाकर 108 मोती चुनकर झोली में डाल लिये और चलने के लिए उठ खड़े हुए । ब्राह्मण वेशधारी सागर ने कहा 'भगवन्! कुछ मोती और ले जाइये न?' महात्मा बोले—'हमें संग्रह थोड़े ही करने हैं? जरूरत थी

उतने ले लिये । अब हम व्यर्थ बोझ क्यों ढोयें ?'

महात्मा ने आकर राजा को बुलाया और पहले के दो दाने समेत 110 मुर्गी के अंडे जैसे पूनम के चांद के चमकते मोती के दाने राजा के सामने रख दिये । राजा आश्चर्यचकित हो गया । महात्मा के परम सिद्ध होने का उसे पूर्ण विश्वास हो गया । उसने सोचा 'ऐसे विलक्षण शक्तिशाली पुरुष से लड़की का विवाह करने में लड़की को तो किसी दुःख की सम्भावना नहीं है । परन्तु इनसे कुछ काम और क्यों न ले लिया जाये ।'

राजा की एक दूसरे बड़े राजा से शत्रुता थी, वह राजा तो मर गया था, उसका छोटा कुमार था । इसने सोचा 'शत्रु का बीज भी अच्छा नहीं, महात्मा के हाथों यह कंटक दूर हो जाये तो अच्छा ।' ऐसा सोच कर राजा ने कहा—'भगवन् ! मोती तो बड़े अच्छे आप ले आये । एक काम और है, अमुक राज्य के राजकुमार का सिर आने पर लड़की का विवाह होगा, ऐसा प्रण है । अतएव यदि हो सके तो आप इसके लिये चेष्टा करें ।'

महात्मा ने कहा—'अरे इसमें कौन बड़ी बात है, अभी जाता हूँ ।' महात्मा जी उस राज्य में गये । राजमाता से मिलें राजमाता ने महात्मा का नाम सुन रखा था, इससे उसने बड़ी अच्छी आवभगत की । इन्होंने कहा—'माई ! हम तो एक काम से आये हैं, तुम्हारे कुमार का हमें सिर चाहिये । हमने एक राजा से कहा था, अपनी कन्या का विवाह हमसे कर दो, उसने कहा कि अमुक राजकुमार का सिर ला देंगे तब विवाह होगा । अतः तुम हमें अपने लड़के का सिर दे दो ।' इकलौता लड़का था और वही राज्य का अधिकारी था । महात्मा के वचन सुनकर राजमाता के प्राण सूख गये, परन्तु हृदय में श्रद्धा थी, उसको विश्वास था कि सच्चे महात्मा से किसी का कोई अकल्याण नहीं हो सकता । उसने कहा—'भगवन् लड़के का सिर मैं

कैसे उतारूं ! आप इस लड़के को ही ले जाइये ।' महात्मा बोले -यह और अच्छी बात है, उसने तो सिर ही मांगा था, हम तो पूरा ले जाते हैं, फिर सिर उतारकर हमें क्या करना है ।'

'भगवन् । इसे मैं आपके हाथों में सौंप रही हूँ ।'

'हाँ, हाँ प्रभु सब मंगल करेंगे ।'

राजकुमार को लेकर महात्मा अपनी नगरी में लौटे और राजमहल में जाकर बोले—'लो, समूचा राजकुमार ! अब पहले विवाह करो, सावधान, जब तक विवाह न हो, लड़के को छूना भी मत ।' राजा ने आनन्द मग्न होकर कहा—'ठीक है भगवन् ! ऐसा ही होगा ।' महात्मा ने कहा—'तो बस अब देर न करो ।'

विवाहमण्डप रचा हुआ था ही । चौकी बिछायी गई । महात्मा जी दूल्हा बने । कन्या आई । कन्या को महात्मा ने एक बार नख शिख देखा । अकस्मात् बोले उठे—'अरे ! उस राजकुमार को तो यहाँ बुलाओ ।' राजकुमार बुलाया गया । महात्मा ने उसे कन्या के बगल में खड़ा कर दिया । फिर दोनों को एक बार नखशिख देखकर बोले—'भई, जोड़ी तो यही सुन्दर है । राजा ! बस, अभी इस राजकुमार से राजकुमारी का विवाह कर दो । सावधान, जो जरा भी चीं-चौपट की ।' राजा नाहीं न कर सका । राजकुमारी का विवाह शत्रु राजकुमार से हो गया । महात्मा के विचित्र आचरण का रहस्य अब राजा के समझ में आया, राजा का मन पलट गया । शत्रु मित्र बन गया । महात्मा अपनी कुटिया पर जाकर पूर्ववत् धूनी तपने लगे ।

इस कहानी से यह प्रतीत हो गया होगा कि संत पुरुष की क्रियाएं किसी अज्ञात उद्देश्य से बड़ी विलक्षण हुआ करती हैं, उनकी क्रियाओं से उनकी स्थिति का पता लगाना बहुत ही कठिन होता है । तथापि आजकल के जमाने में जहाँ लोग नाना प्रकार से ठगे जा रहे हैं विशेष सावधानी रखना ही उत्तम है । श्रद्धा और सेवा करके

सत्संग करना चाहिये और जिन संत पुरुष के संग से अपने में दैवी सम्पदा की वृद्धि, भगवान् की ओर चित्तवृत्तियों का प्रवाह, शान्ति और आनन्द की वृद्धि प्रतीत हो, उन्हीं को संत मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। अपनी बुद्धि जिनको संत स्वीकार न करे उनकी निन्दा तो नहीं करनी चाहिए परन्तु अपने उनसे कोई गुरु शिष्य का संबंध नहीं रखना चाहिये। निन्दा तो इसलिये नहीं कि प्रथम तो किसी की भी निन्दा करना ही बहुत बुरा है, दूसरे, हम संत का बाहरी आचरण से निर्णय भी नहीं कर सकते। और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इसलिये नहीं कि श्रद्धारहित और दोषबुद्धियुक्त ऐसे संबंध से कोई लाभ नहीं होता।

4. संतभाव की प्राप्ति के साधन

प्रभु की प्राप्ति ही मानव जीवन का उद्देश्य है और जो इस उद्देश्य में सफल हो चुके हैं, वे ही संत हैं। अतएव इस संतभाव की प्राप्ति में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। इसकी प्राप्ति के अनेक उपाय शास्त्रों और संतों ने बतलाये हैं परन्तु इनमें प्रधान दो ही हैं। 1. भगवान् की नित्य असीम कृपा का आश्रय और 2. लक्ष्य प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय और अटल विश्वास के साथ किया जाने वाला पुरुषार्थ।

भक्तिमार्गी साधन दोनों में से एक का अथवा दोनों का साधन कर सकते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गी प्रायः दूसरे का ही करते हैं। योग तो दोनों में ही आवश्यक है। जब तक चित्तवृत्ति का अपने इष्ट में योग नहीं होता, जब तक साधन में सफलता मिल ही नहीं सकती। उपर्युक्त, दोनों उपायों में भक्तिमार्गी को पहला अधिक प्रिय होता है, वह अपने पुरुषार्थ का भरोसा नहीं करता और वैसा करने में वह अपने में एक अभिमान का दोष आता देखकर सिहर उठता है; साथ ही उसकी यह भी धारणा है कि जीवन के पुरुषार्थ से

भगवान् का मिलना असम्भव है, वे तो स्वयं कृपा करके जब अपना दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं, तभी जीवन उनके दर्शन पा सकता है । इसीलिये वह उनकी कृपा पर विश्वास करके तन-मन-धन से उनके शरणापन्न हो जाता है ।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओं को त्यागकर चुपचाप हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाता है, या आलसी की भाँति तानकर सोता है । वह पुरुषार्थ नहीं करता, इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थ का अभिमान अपने अंदर नहीं उत्पन्न होने देता, परन्तु अपने तन-मन-धन सबको भगवान् का समझ कर निरंतर उनकी सेवा में तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता । वस्तुतः वही पुरुष पुरुषार्थी होता है जो अपने को भगवान् के परतन्त्र मानकर यंत्रवत् उनकी सेवा में लगा रहता है । जो व्यक्ति यह कहता है कि मैं प्रभु के शरणागत हूँ, मुझे तो उन्हीं की कृपा का विश्वास है । परन्तु जो प्रभु की आज्ञा अनुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखे में है, या दूसरों को धोखा दे रहा है ।

शरणागति में साधन का या पुरुषार्थ का अथवा यों कहें कि अभिमानयुत कर्म का सर्वथा अभाव है, क्योंकि शरणागति के साधक को साधन या पुरुषार्थ का आश्रय नहीं होता । परन्तु उसमें भगवत् सेवा रूप कर्म का कभी अभाव नहीं होता । भगवत् सेवा के लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है । परन्तु ऐसे भक्त को भी ज्ञान की आवश्यकता है, ज्ञान की सुदृढ़ नींव पर ही भक्ति की विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञान में प्रेम तो है ही । अतएव यद्यपि इन दोनों का समन्वय है, तथापि एककी प्रधानता में दूसरा छिपा-सा रहता है । इससे वह स्पष्ट व्यक्ति नहीं होता ।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रिय भक्ति का ही एक रूपान्तर मात्र है । निष्काम कर्मयोगी कर्म में आसक्ति और फल

की चाह न रखकर सब कुछ भगवान् के लिये ही करता है। वह समझता है कि कर्म में ही मेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं। सब साधनों के एकमात्र परमफल तो भगवान् ही होने चाहियें, फिर मैं भगवद्‌र्थ कर्म करने से वंचित क्यों रहूँ। यह समझकर वह ममता, आसक्ति और आशा-निराशा को छोड़कर मन-बुद्धि आदि को भगवान् के अर्पण कर नित्य-निरन्तर भगवान् का स्मरण करता हुआ भगवान् की पूजा के लिये ही अपने जिम्मे में आये हुए कर्मों का सुचारू रूप से निःसंग होकर उत्साहपूर्वक सम्पादन करता रहता है।

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधानात्मक पतंजल युक्त क्रियायोग का भी भक्ति में समावेश हो जाता है। भक्ति-साधना में होने वाले नाना प्रकार के कष्टों को भक्त सत्कारपूर्वक सहन करता है, भगवान् की सेवा में प्राण तक देने में वह आनन्द का अनुभव करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए प्रत्येक भीषण-से-भीषण संकट को वह भगवत्प्रसाद सममझकर उसका सुखपूर्वक स्वागत करता है, यह उसका परम तप है। वह सदा-सर्वदा भगवद् गुणानुवाद के पढ़ने-सुनने में तथा भगवान् के नाम-जप में अपने को लगाये रखता है, यह उसका स्वाध्याय है, और प्रभु के अनन्य शरण तो वह है ही।

यद्यपि सब के लिये एक ही से साधन समान रूप से उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि निम्नलिखित कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनके साधन करने से संतभाव की प्राप्ति में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

1. शुद्ध सत्य कमाई का परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

2. मीठी सत्य वाणी बोलना।

3. सबकी यथायोग्य सेवा करना, परन्तु मन में ममत्व और

अभिमान न आने देना ।

4. शिष्य न बनाना ।

5. प्रजा-प्रतिष्ठा और ख्याति से यथा साध्य बचना ।

6. तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना ।

7. अपने इष्ट और साधन को ही सर्वोपरि मानना, परन्तु दूसरे के इष्ट और साधन को न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना ।

8. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डल में रखने की चेष्टा करना । यथासाध्य इनको भगवत् सम्बन्धी कार्यों में ही लगाये रखना ।

9. परमात्मा को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना ।

10. प्रतिदिन कम-से-कम 2 घंटे एकान्त में प्रभु ध्यान करना, भगवान् से भगवद् भाव को पाने की सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानो प्रभु की पवित्र शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्र से पवित्रतर और पवित्रतम होता जा रहा है और अशान, अहंता, ममता, राग-द्वेषादि दोषों का नाश होकर उनके स्थान पर दैवी गुणों का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है ।

11. काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, वैर, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषों को अपने अंदर स्थान देने से इन्कार कर देना और पद-पद पर इनका तिरस्कार करना । याद रखना चाहिये कि ये सब दोष हमारी लापरवाही अथवा अज्ञात वा ज्ञात अनुमति से ही हमारे अंदर रह रहे हैं । जिस दिन हमारी आत्मा बलपूर्वक इनको अंदर रहने से रोक देगी, उस दिन से इनका अंदर रहना कठिन हो जायेगा । बार-बार

तिरस्कारपूर्ण धक्के खा-खाकर आखिर ये हमारे अंदर से सदा के लिये चले जावेंगे ।

12. मन जहाँ-तहाँ दौड़ता है और मनमानी करता है, इसमें मुख्य कारण हमारी कमजोरी ही है । वस्तुतः आत्मा की दृष्टि से या अनन्तशक्ति परमात्मा का सनातन अंश होने के कारण-जीव में अपार शक्ति है, उस आत्मिक या ईश्वरीय शक्ति के सामने मन-इन्द्रिय आदि की शक्ति तुच्छ और नगण्य है, बल्कि मन-इन्द्रियादि में जो शक्ति है, वह आत्मा की ही दी हुई है । शक्ति का मूल उत्स और एकमात्र भण्डार तो आत्मा ही है । वह आत्मा यदि अपने स्वरूप को सम्हालकर, उसमें प्रतिष्ठित होकर बलपूर्वक मन-इन्द्रियादि को आज्ञा दे दे कि 'सावधान, अब तुम असत् विषयों को अपने अंदर नहीं रख सकते' तो फिर इनकी शक्ति नहीं है कि ये इन विषयों को अपने में स्थान दे सकें । इसलिए मन-इन्द्रियों को सदा आत्मा का अनिवार्य आदेश देते रहना चाहिये । पूर्वाभ्यासवश आत्मा से अनुमति पाने की इनकी चेष्टा एक ही दो बार के आदेश से नष्ट नहीं हो जायेगी । परन्तु जब-जब ये अनुमति मांगें, तभी तब इनसे स्पष्टतः कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो-तुम्हें हमारी आज्ञानुसार चलना ही होगा ।' और इन्हीं बड़ी सावधानी से निरन्तर भगवान् में लगाये रखना चाहिये ।

13. अपने इष्ट मंत्र का स्मरण-चिंतन जितना अधिक से अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये ।

14. यथासाध्य सांसारिक वस्तुओं का संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओं पर एकमात्र प्रभु का ही अधिकार मानना चाहिये ।

संतभाव की प्राप्ति में विघ्न

संतभाव की प्राप्ति में मुख्य विघ्न है—कीर्ति की कामना ।

स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य और मान-सम्मान का त्याग कर चुकने वाला पुरुष भी कीर्ति की मोहिनी में फंस जाता है। कीर्ति की कामना का त्याग तो दूर रहा, स्थूल मान-प्रतिष्ठा का त्याग भी बहुत कठिन होता हैं जिस व्यक्ति की साधन धारा चुपचाप चलती है, उसको इतना डर नहीं है, परन्तु जिसके साधक होने का लोगों को पता चल जाता है, उसकी क्रमशः ख्याति होने लगती है, फिर उसकी पूजा प्रतिष्ठा आरम्भ होती है, स्थान-स्थान पर उसका मान-सम्मान होता है, और इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान में जहाँ उसका तनिक भी फंसाव हुआ कि पतन आरम्भ हो जाता है।

इन्द्रियाँ प्रबला हैं ही—मान-सम्मान तथा पूजा प्रतिष्ठा में जहाँ इन्द्रियों को आराम पहुँचाने वाले भोग भक्तों द्वारा समर्पित होकर इन्द्रियों को उपभोगार्थ मिलने लगे, वहीं उनकी भोगवासना और भी विशेष जागृत होकर प्रबल हो उठती है, इन्द्रियाँ मन को खींचती हैं, मन बुद्धि को और जहाँ बुद्धि अपने परम लक्ष्य परमात्मा को छोड़कर विषयसेन परायणा इन्द्रियों के अधीन हो जाती है, वहीं सर्वनाश हो जाता है।

अतएव संतभाव की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले साधकों को बड़ी ही सावधानी के साथ ख्याति, मान-प्रतिष्ठा आदि से अपने को बचाये रखना चाहिये। इन सबको अपने साधन मार्ग में मुख्य विघ्न समझकर इनका विषवत् त्याग करना चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये कि विषयी पुरुषों की मनोवृत्ति से साधक की मनोवृत्ति सर्वथा विपरीत होती है। विषयी धन-ऐश्वर्य, मान यश आदि के प्रलोभन में पड़ा रहता है। तो साधक इनके त्याग में ही अपना कल्याण समझता है।

ऐसे साधनों के भक्तों और अनुयायियों को भी चाहिये कि वे संतसेवा—गुरुभक्ति के नाम पर भ्रमवश इन्द्रियों की भूख बढ़ाने

वाले मोहक भोग उनके चरणों पर चढ़ा कर उनके लिये विलास सामग्रियों का संग्रहकर उन्हें पवित्र मर्यादित संत-जीवन से गिराने की चेष्टा न करें। संत और गुरु का सम्मान और उनकी पूजा करना शिष्य का मुख्य कर्तव्य है और उसके लिये लाभदायक भी है, परन्तु उनकी सच्ची पूजा उसी कार्य में है जो उनके लिए हानिकारक नहीं है और जो आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हाने के कारण हृदय से उनका इच्छित है। जो मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा के लिये ही संत का बाना धारण करता है वह तो संत ही नहीं है।

इसलिये सच्चे साधक संत मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा क्यों करने लगे? यदि भ्रमवश करते हैं तो वह उनके साधन में विघ्न रूप होने के कारण उनके लिये महान् हानिकारक है। अतएव भक्त और शिष्यों को संत और गुरु के लिये विलाससामग्री जुटाने में आत्मसंयम से काम लेना चाहिये, क्योंकि विलाससामग्री से संत का यथार्थ सम्मान कभी नहीं होता, बल्कि त्यागी महात्मा को भोगपदार्थ देना या भोगपदार्थ के लिए उनके मन में लालच उत्पन्न करने की चेष्टा करना तो उनका अपमान या तिरस्कार ही करना है। शरशय्या पड़े हुए वीरशिरोमणि भीष्म के लटकते हुए मस्तक के लिये रूई का तकिया नहीं शोभा देता, उसके लिये तो अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों का तकिया ही प्रशस्त और योग्य है।

इसी प्रकार संत-महात्माओं का यथार्थ सम्मान उनके आज्ञापालन में, उनके आदर्श चरित्र के अनुकरण में और उनके वेश के अनुरूप ही उनकी सेवा करने में है। पहुँचे हुए संत-महात्मा पुरुष कभी भक्तों का अत्यंत आग्रह देखकर उनकी प्रसन्नता के लिये किसी वैध भोगसामग्री को स्वीकार कर लेते हैं, जो निषिद्ध न होने पर भी उनके स्वरूप के अनुरूप शोभा देने वाली नहीं है, तो इससे

उनका अवश्य ही कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; वे तो अपने स्वरूप के विपरीत वस्तु का स्वीकार करके अपने संत स्वभाव का ही सुन्दर परिचय देते हैं, परन्तु उनकी देखा देखी साधक संत यदि वैसा करने लगते हैं तो उनकी बड़ी हानि हो सकती है। अतएव साधक संतों को इस विघ्न से बचे रहना चाहिये।

विलास-सामग्री, मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा का त्याग करने पर भी इनके त्याग से होने वाली कीर्ति की कामना तो किसी न किसी अंश के साधक के मन में प्रायः रह ही जाती है। इसीलिये सच्चे संत लोग त्याग का भी त्याग कर देना चाहते हैं, उनके लिये त्याग की स्मृति भी रसहीन हो जाती है। इस प्रकार जिन संत महात्माओं ने मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा के साथ ही कीर्ति कामना का भी कतई त्याग कर दिया है वे ही यथार्थ संत हैं। साधक संतों के लिये इस कीर्ति-कामनारूपी मुख्य विघ्न के त्याग की तो आवश्यकता है ही—छोटे-छोटे निम्नलिखित विघ्नों से भी उन्हें बचे रहना चाहिये—वे छोटे विघ्न भी आश्रय पाने से आगे चलकर बड़े हो जाते हैं और साधक को लक्ष्यच्युत करके उसका सर्वनाश कर देते हैं—

1. सभा-समितियों में शामिल होना और अनावश्यक समाचार पढ़ना।

2. किसी भी मनुष्यविशेष, स्थानविशेष या वस्तुविशेष में विशेष रूप से ममता होना।

3. मठ या आश्रमादि की स्थापना करना।

4. साधन में आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, अश्रद्धा, अविश्वास और निश्चय की कमी।

5. शास्त्रार्थ करना।

6. अपने को संत समझना और दूसरों को असंत।

7. दूसरों के दोष देखना और उन्हें प्रकट करना ।

8. किसी भी मनुष्य का अपमान करना और किसी की निन्दा करना ।

9. परिचर्चा ।

10. नाटक सिनेमा आदि देखना-असत् साहित्य पढ़ना ।

11. अशास्त्रीय कार्य में रुचि ।

12. बड़ों का असम्मान ।

13. किसी भी जीव से घृणा करना ।

14. विपत्ति में घबराकर और सम्पत्ति से हर्ष से फूलकर कर्तव्य को भूल जाना ।

15. जगत् के विषयों की प्राप्ति में जीवन की सफलता समझना और इस सफलता में प्रभुकृपा का या किसी साधन सिद्धि का अनुभव करना ।

16. किसी कारणवश किसी कार्य के अकस्मात् सिद्ध हो जाने पर या किसी बात के सत्य हो जाने पर अपने को सिद्ध मानना और लोगों को चमत्कार दिखलाने की इच्छा करना ।

5. संतमहिमा

साध की महिमा वेद न जानहि ।।
जेता सुनहि तेता बखिआनहि ।।
साध की उपमा तिहु गुण ते दूरि ।।
साध की उपमा रही भरभूरि ।।
साध की सोभा का नाही अंत ।।
साध की सोभा सदा बेअंत ।।

साध की सोभा ऊच से ऊची ।।
साध की सोभा मूच से मूची ।।
साध की सोभा साध बनि आई ।।
नानक साध प्रभ भेद न भाई ।।

—श्रीगुरुग्रंथसाहिब मुहला-5 पृष्ठ 272

संतमहिमा को वेद भी नहीं जानते । हम जितना सुनते हैं उतना ही कहते हैं । संतमहिमा तो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से भी ऊपर है । अतः यह महिमा ही सारे भरपूर हो रही है । संत शोभा का कोई अंत नहीं उसकी शोभा सदा ही बेअंत है । संत शोभा ऊँची से ऊँची है । संत शोभा बड़ी से बड़ी है । संत शोभा संत को ही बन आती है । वस्तुतः हे भाई ! संत व परमात्मा में कोई भेद नहीं है । अर्थात् सच्चा संत का जीवन परमात्मा की भाँति परोपकारी होता है । उसकी शोभा अवर्णनीय होती है ।

संसार में संतों का स्थान सबसे ऊँचा है । देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा सभी सच्चे संतों को अपने से बढ़कर मानते हैं । संत का ही जीवन सार्थक होता है । अतएव सभी लोगों को संत भाव की प्राप्ति के लिये भगवान् की शरण होना चाहिये । यहाँ एक प्रश्न होता है कि 'संत भाव की प्राप्ति प्रयत्न से होती है या भगवत् कृपा से अथवा दोनों से? यदि यह कहा जाये कि वह केवल प्रयत्नसाध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके संत क्यों नहीं बन जाते? यदि कहें कि भगवत् कृपा से होती है तो भगवत् कृपा सदा सब पर अपरिमित है ही, फिर सब को संतभाव प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? दोनों से कही जाये तो फिर भगवत्कृपा का महत्त्व ही क्या रह गया, क्योंकि दूसरे प्रयत्नों के सहारे बिना केवल उस से भगवत् प्राप्ति हुई नहीं?

इसका उत्तर यह है कि भगवत् प्राप्ति यानी संतभाव की

प्राप्ति भगवत्कृपा से ही होती है । वास्तव में भगवत् प्राप्त पुरुष को ही संत कहा जाता हैं 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्मा के यथार्थ तत्त्व को जो जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है वही संत है । हाँ, गौणी वृत्ति से उन्हें भी संत कह सकते हैं जो भगवत् प्राप्ति के पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत् प्राप्ति लक्ष्य के समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र उन्हें भगवत् प्राप्ति की सम्भावना है ।

इस पर यह शंका होती है कि जब परमात्मा की कृपा समीप है, तब सभी को परमात्मा की प्राप्ति हो जानी चाहिये परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि यदि परमात्मा की प्राप्ति की तीव्र चाह हो और भगवत्कृपा में विश्वास हो तो सभी को प्राप्ति हो सकती है । परन्तु परमात्मा की प्राप्ति चाहते ही कितने व्यक्ति है, तथा परमात्मा की कृपा पर विश्वास हो कितनें को है ? जो चाहते हैं और जिनका विश्वास है उन्हें प्राप्ति होती ही है । यदि यह कहा जाये कि परमात्मा की प्राप्ति तो सभी चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं है; ऐसी चाह वास्तविकता चाह नहीं है ।

हम देखते हैं जिसको धन की चाह होती है, वह धन के लिये सब कुछ करने तथा इतर सबका त्याग करने को तैयार हो जाता है, इसी प्रकार को भगवत् प्राप्ति की तीव चाह कितनों को है ? धन तो चाहने पर भी प्रारब्ध में होता है तभी मिलता है, प्रारब्ध में नहीं होता तो नहीं मिलता । परन्तु भगवान् तो चाहने पर अवश्य मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् धन की भाँति जड़ नहीं है । जड़ धन हमारी चाह के बदले में वैसी चाह नहीं कर सकता । परन्तु भगवान् तो, जो उनको चाहता है, उसको स्वयं चाहते हैं और यह निश्चित सत्य है कि भगवान् की चाह कमी निष्फल नहीं होती, वह अमोघ होती है । अतएव भगवान् की चाह से बिना ही प्रयत्न किये भक्त की चाह अपने-आप पूर्ण हो जाती है । इतना स्मरण रखना चाहिये कि भक्त

के चाहने पर ही भगवान् उसे चाहते हैं ।

यदि यह कहें कि भक्त के बिना चाहे भगवान् क्यों नहीं चाहते ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् में वस्तुतः 'चाह' है ही नहीं, भक्त की चाह से ही उनमें चाह पैदा होती है । इस पर यह शंका है कि जब भक्त की चाह से ही भगवान् में चाह होकर भगवान् मिलते हैं तब केवल भगवत्कृपा की प्रधानता कहाँ रही है ? चाह भी तो एक प्रयत्न ही है ? इसका उत्तर यह है कि—भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा मात्र को प्रयत्न नहीं कहा जा सकता । और यदि इसी को प्रयत्न माने तो इतना प्रयत्न तो अवश्य ही करना पड़ता है । परन्तु ध्यान देकर देखने से मालूम होगा कि इच्छा करने मात्र से प्राप्त होने वाले एक श्रीभगवान् ही हैं । दुनियाँ में लोग नाना प्रकार के पदार्थों की इच्छा करते हैं परन्तु इच्छा करने से ही उन्हें कुछ नहीं मिलता । इच्छा हो, प्रारब्ध का संयोग हो और फिर प्रयत्न हो तब कहीं कोई भौतिक पदार्थ मिलता है परन्तु भगवान् के लिये तो इच्छामात्र से ही काम हो जाता है ।

इच्छा करने पर जो प्रयत्न होता है वह प्रयत्न तो भगवान् स्वयं फेर लेते हैं । साधक तो केवल निमित्तमात्र बनता है । अर्जुन से भगवान् ने कहा—'ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा ।' (गीता 11.33) इसी प्रकार अपनी प्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि में भी सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं । इच्छा करने वाले भक्त को केवल निमित्त मात्र बनाते हैं । जो लोग भगवत्प्राप्ति को अपने पुरुषार्थ से सिद्ध होने वाली मानते हैं, उनको भगवान् दर्शन नहीं देते । हाँ, उन्हें बड़ी कठिनाई से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है परन्तु उसमें भी गुरु की शरण तो ग्रहण करनी ही पड़ती है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

उन तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार

दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को ज्ञान वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझको उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। कठोपनिषद् कहती है—

'उठो, जागो और महान् पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस पथ को भी वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'

भगवद्प्राप्ति में अपना पुरुषार्थ मानने का कारण अहंकार रूपी दोष है। भक्त के इस अहंकार दोष को नष्ट करने के लिये भगवान् उसे भीषण संकट में डालकर यह बात प्रत्यक्ष दिखला देते हैं कि कार्यसिद्धि में अपना सामर्थ्य मानना मनुष्य की एक बड़ी गलती है। इस प्रकार अहंकार नाश के लिये जो स्वयं को विपत्ति में डालना है, यह भी भगवान् की विशेष कृपा है। केनोपनिषद् में एक कथा है—इन्द्र, अग्नि, वायु देवों ने विजय में अपने पुरुषार्थ को कारण समझा, इसलिये उन्हें गर्व हो गया। तब भगवान् ने उन पर कृपा करके यक्ष के रूप में अपना परिचय दिया और उनके गर्व का नाश किया। जब अग्नि-वायु देवता परास्त हो गये और यह समझ गये कि हमारे अंदर वस्तुतः कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, तब भगवान् ने विशेष दया करके उमा के द्वारा इन्द्र को अपना यथार्थ परिचय दिया।

सफलता में अपना पुरुषार्थ मानकर मनुष्य गर्व करता है परन्तु अनिवार्य विपत्ति में जब वह अपने पुरुषार्थ से निराश हो जाता है तब निष्पाप होकर भगवान् के शरण में जाता है और आर्त होकर पुकार उठता है—'नाथ! मुझे इस घोर संकट से बचाइये। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं जो अपने बल से अपना उद्धार मानता था, वह मेरी भारी भूल थी। राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओं के

दबाने से अब मुझे इस इस बात का पूरा पता लग गया कि आपकी कृपा के बिना मेरे लिये इनसे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव-सा है । जब अहंकार को छोड़कर इस तरह सरल भाव से और सच्चे हृदय से व्यक्ति भगवान् की शरण हो जाता है तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और आश्वासन देते हैं, क्योंकि भगवान् की यह घोषणा है—

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर कहता है, मैं तुम्हारा हूँ, (तुम मुझे अपना लो) मैं उसे सब भूतों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है ।' इस पर भी मनुष्य उनके शरण होकर अपना कल्याण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

दयासागर भगवान् की जीवों पर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं । वस्तुतः उन्हें दयासागर कहना भी उनकी स्तुति के ब्याज से निन्दा ही करना है । क्योंकि सागर तो सीमा वाला है, परन्तु भगवान् दया की तो कोई सीमा ही नहीं है । अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान् की दया की जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे बहुत ही बढ़चढ़ कर है । उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती । कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसके द्वारा भगवान् की दया का स्वरूप समझाया जा सके । माता का उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है । कारण, दुनियाँ में असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओं से ही होती है, उन सारी माताओं के हृदयों में अपने पुत्रों पर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उस दयासागर की दया के एक बूंद के बराबर भी नहीं है ।

ऐसी हालत में और किससे तुलना की जाये ? तो भी माता का उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोक में जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है । माता अपने बच्चे के लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रिया में दया भरी रहती है । इस बात

का बच्चे को भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है । जब बच्चा शरारत करता हे तो उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है । ऐसी अवस्था में भी बच्चा माता के पास ही जाना चाहता है । दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है 'माँ ने ।' इस पर वे कहते हैं 'तो आइन्दा उसके पास नहीं जाना ।' परन्तु वह उनकी बात पर ध्यान न देकर रोता है और माता के पास ही जाना चाहता है । उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी ।'

परन्तु इस बात का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, वह किसी भी बात की प्रवाह न करके अपने सरल भाव से माता के ही पास जाना चाहता है । रोता है, परन्तु चाहता है माता को ही । जब माता उसे हृदय से लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शांत होता है । इस प्रकार माता की दया पर विश्वास करने वाले बच्चे की भाँति जो भगवान् के दया तत्त्व को जान लेता है और भगवान् की मार पर भी भगवान् को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदय से लगा लेते हैं । फिर जो भगवान् की कृपा को विशेष रूप से जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है?

लड़का नीचे के तल्ले से ऊपर के तल्ले पर जब चढ़ना चाहता है तो माता उसे सीढ़ियों के पास ले जाकर चढ़ने के लिये उत्साहित करती है । कहती है—'बेटा! चढ़ो' गिरोगे नहीं, मैं साथ हूँ न? लो, मैं हाथ पकड़ती हूँ ।' यों साहस और आश्वासन देकर उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ाती है, पूरा ख्याल रखती है, कहीं गिर न जाये; जरा-सा भी डिगता है तो तुरंत हाथ का सहारा देकर थाम लेती और चढ़ा देती है; बच्चा जब चढ़ने में कठिनाई का अनुभव करता हे तब माँ की ओर ताककर मानों इशारे से माँ की सहायता चाहता है । माँ उसी क्षण उसे अवलम्बन देकर चढ़ा देती है और पुनः उत्साह दिलाती है ।

बच्चा कहीं फिसल जाता है तो माँ तुरंत उसे गोद में उठा लेती है, गिरने नहीं देती। इसी प्रकार जो पुरुष बच्चे की भाँति भगवान् पर निर्भर करता है, भगवान् उसकी उन्नति और रक्षा की व्यवस्था स्वयं करते हैं, उसे तो केवल निमित्त बनाते हैं। सांसारिक माता तो कदाचित् असावधानी और सामर्थ्य के अभाव से या भ्रम से गिरते हुए बच्चे को न बचा सके परन्तु वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ प्रभु तो अपने आश्रित को कभी गिरने देते ही नहीं। परन्तु उत्तरोत्तर उसे सहायता देते हुए, एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए सबसे ऊपर के तल्ले पर, जहाँ पहुँचना ही जीव का अन्तिम ध्येय है, पहुँचा ही देते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न भगवान् ही करते हैं, भक्त को तो केवल इच्छा करनी पड़ती है, और उसी से भगवान् उसे निमित्त बना देते हैं।

बच्चा कभी अभिमानवश यह सोचता है कि मैं अपने ही पुरुषार्थ से चढ़ता हूँ, तब माता कुछ दूर हटकर कहती है, 'अच्छा चढ़' । परन्तु सहारा न पाने से वह चढ़ नहीं सकता। गिरने लगता है, तब माता दौड़कर उसे बचाती है। इसी प्रकार अपने प्रयत्न का अभिमान करने वाला भी गिर सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे, भगवान् की कृपा का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मनुष्य सब कुछ छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाये, कुछ भी न करे। ऐसा मानना तो प्रभु की कृपा का दुरुपयोग करना हैं जब माता बच्चे को ऊपर चढ़ाती है, तब सारा कार्य माता ही करती है, परन्तु बच्चे कीि माता की आज्ञानुसार चेष्टा तो करनी ही पड़ती है। जो बच्चा माँ की इच्छानुसार चेष्टा नहीं करता या उससे विपरीत करता है, उसको माता उसके हितार्थ डराती-धमकाती है तथा कभी-कभी मारती भी है।

इस मार में भी माँ के हृदय का प्यार भरा रहता है, यह भी उसकी परम दयालुता है। इसी प्रकार भगवान् भी दयापरवश होकर

समय-समय पर हमको चेतावनी देते हैं । मतलब यह कि जैसे बच्चा अपने को और अपनी सारी क्रियाओं को माता के प्रति सौंप कर मातृपरायण होता है, इसी प्रकार हमें भी अपने आपको ओर अपनी सारी क्रियाओं को परमात्मा के हाथों में सौंपकर उनके चरणों में पड़ जाना चाहिये । इस प्रकार बच्चे की तरह परम श्रद्धा और विश्वास के साथ जो अपने-आपको परमात्मा की गोद में सौंप देता है वही पुरुष परमात्मा की कृपा का इच्छुक और पात्र समझा जाता है और इसके फलस्वरूप वह परमात्मा की दया से परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । सारांश यह कि परमात्मा की प्राप्ति परमात्मा की दया से ही होती है; दया की प्रधानता नहीं, दया ही एकमात्र कारण है । परन्तु यह दया मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बना देती । परमात्मा की दया से ही ऐसा परमपुरुषार्थ बनता है । जीव का अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, वह तो निमित्तमात्र होता है ।

संत की विशेषता

उपर्युक्त दयासागर भगवान् की दया के तत्त्व और रहस्य को यथार्थ जानने वाला पुरुष भी दया का समुद्र और सब भूतों का सुहृद् बन जाता है । भगवान् ने कहा है—'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।' इस कथन का रहस्य यही है कि दयामय भगवान् सब भूतों का सुदृढ़ समझने वाला पुरुष उस दयासागर के शरण हाकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है । इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि मुझको सबका सुहृद् समझने वाला शान्ति को प्राप्त हो जाता है । ऐसे भगवत् प्राप्त पुरुष ही वास्तव में संत पद के योग्य हैं । ऐसे संतों को कोई-कोई तो विनोद में भगवान् भी बढ़कर बता दिया करते हैं । तुलसीदास जी कहते हैं—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ।।

मोरे मन अस विसवासा । रामते अधिक रामकर दासा ।।

'भगवान् सागर हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत पवन हैं। इस हेतु से मेरे मन में ऐसा विश्वास होता है कि राम के दास राम से बढ़कर हैं।' दोनों दृष्टांतों पर ध्यान दीजिये। समुद्र जल से परिपूर्ण है, परन्तु वह जल किसी काम में नहीं आता। न कोई उसे पीता है और न उससे खेती ही होती हैं परन्तु बादल जब उसी सागर से जल को उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं तो केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत् में आनन्द की लहर बह जाती है। इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान है, परन्तु जब तक परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले भक्तजन उनके प्रभाव का सब जगह विस्तार नहीं करते, तब तक जगत् के लोग परमात्मा को नहीं जान सकते। जब संत सर्वसद्गुणसागर परमात्मा से समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान आदि गुण लेकर बादलों की भाँति संसार में उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, परन्तु सारे संसार के लोग उससे लाभ उठाते हैं।

भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान् की गुण-गरिमा और महत्त्व-प्रभुत्व का विस्तार जगत् में कौन करता? इसलिये भक्त भगवान् से ऊँचे हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दन में ही है, परन्तु यदि वायु उस सुगन्ध को वहन करके अन्य वृक्षों तक नहीं ले जाता तो चन्दन की गंध चन्दन में ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते। इसी प्रकार, भक्तगण यदि भगवान् की महिमा का विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी, दुराचारी व्यक्ति भगवान् के गुण और प्रेम को पाकर सद्गुणी नहीं बनते।

1. संतों की दया

उन महात्माओं में द्वेष का तो नाम ही नहीं रहता। वे इतने दयालु होते हैं कि दूसरे के दुःख को देखकर उनका हृदय पिघल जाता है। वे दूसरे के हित को ही अपना हित समझते हैं। उन पुरुषों

में विशुद्ध दया होती है । जो दया कायरता, ममता, स्वार्थ और भय आदि के कारण की जाती है, वह शुद्ध नहीं है । जैसे भगवान् की अहैतु की दया समस्त जीवों पर है—इसी प्रकार महापुरुषों की अहैतुकी दया सब पर होती है । उनकी कोई कितनी ही बुराई क्यों न करें, बदला लेने की इच्छा तो उनके हृदय में होती ही नहीं । कहीं बदला लेने की सी क्रिया देखी जाती है, तो वह भी उसके दुर्गुणों को हटाकर उसे विशुद्ध करने के लिये ही होती है । इस क्रिया में भी उनकी दया छिपी रहती है । जैसे माता-पिता गुरुजन बच्चे के सुधार के लिये स्नेहपूर्ण हृदय से उसे दण्ड देते हैं—इसी प्रकार संतों में भी कभी-कभी ऐसी क्रिया होती है, परन्तु इसमें भी परम हित भरा रहता है ।

वे संत करुणा के भण्डार होते हैं । जो कोई उनके समीप जाता है, वह मानो दया के सागर में गोते लगाता है । उन पुरुषों के दर्शन, स्पर्श और चिन्तन में भी मनुष्य उनके दयाभाव को देखकर मुग्ध हो जाता है । वे जिस मार्ग से निकलते हैं, मेघ की ज्यों दया की वर्षा करते हुए ही निकलते हैं । मेघ सब समय और सब जगह नही बरसता, परन्तु संत तो सदा-सर्वत्र बरसते ही रहते हैं । उनके दर्शन, भाषण और स्पर्श से सारे जीव पवित्र हो जाते हैं । उनके चरण जहाँ टिकते हैं वह भूमि पावन हो जाती है । उनके चरणों से स्पर्श की हुई रज स्वयं पवित्र होकर दूसरों को पवित्र करने वाली बन जाती है । उनके द्वारा देखे हुए और स्पर्श किये हुए पदार्थ पवित्र हो जाते हैं । फिर उनके कुल की विशेषतः उन्हें जन्म देने वाले माता-पिता की तो बात ही क्या है । ऐसे महापुरुष जिस देश में जन्मते हैं और शान्त होते हैं, वे देश तीर्थ माने जाते हैं । आज तक जितने तीर्थ बने हैं, वे सब प्रभु व प्रभु भक्तों के निमित से ही बने हैं । इतना ही नहीं, सब लोकों को पवित्र करने वाले तीर्थ भी उनके चरणस्पर्श से पवित्र हो जाते हैं ।

यह सब उनके द्वारा स्वाभाविक ही होता है, उन्हें करना नहीं पड़ता। भगवान् तो भजने वालों को भजते हैं, परन्तु वे दयालु संत नहीं भजने वाले का, यहाँ तक कि गाली देने और अहित करने वाले का भी हित ही करने में तुले रहते हैं। कुल्हाड़ा चन्दन को काटता है, परन्तु चन्दन उसे स्वाभाविक ही अपनी सुगन्ध दे देता है। प्रह्लाद, अम्बरीप आदि के इतिहास इसमें प्रमाण है। अतएव विनोद में भक्त को भगवान् से बढ़कर बतलाना युक्तियुक्त ही है। संत जन सुरसरि और सुरतरु से भी विशेष उपकारी हैं। गंगा और कल्पवृक्ष उनके शरण होने पर क्रमशः पवित्र करते और मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु संत तो इच्छा करने वाले और न करने वाले सभी के घर स्वयं जाकर उनके इस लोक और परलोक के कल्याण की चेष्टा करते हैं।

इस पर यदि यह कहा जाए कि संत जब सबका कल्याण करते हैं तो सबका हो क्यों नहीं जाता? तो इसका उत्तर यह है कि सामान्यभाव से तो संत से जिन लोगों की भेंट हो जाती है, उन सभी का हित होता है। परन्तु विशेष लाभ श्रद्धा और प्रेम होने पर होता है। यदि यह कहा जाये कि जबरदस्ती सब का हित संत क्यों नहीं कर देते? तो इसका उत्तर यह है कि जबरदस्ती कोई किसी का हित नहीं कर सकता। पतंग दीपक में जल कर मरते हैं। दयालु पुरुष उन पर दया करके उन्हें बचाने के लिये उस दीपक को बुझाकर उनका परम हित करना चाहते हैं, परन्तु वे पतंग जहाँ दूसरे दीपक जलते रहते हैं, वहाँ जाकर जल मरते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों को कल्याण की स्वयं इच्छा नहीं होती उनका कल्याण करना बहुत ही कठिन है।

यदि यह कहा जाये कि श्रद्धा-प्रेम करने वालों का तो विशेष कल्याण करते हैं और दूसरों का सामान्य भाव से करते हैं, तो इसमें

विषमता दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। श्रद्धा और प्रेम की कमी के कारण यदि लोग संतों की सब पर छायी हुई समान अपरिमित दया से लाभ नहीं उठा सकते तो इसमें उनका दोष नहीं है। सूर्य बिना किसी पक्षपात के सभी को समानभाव से प्रकाश देता है, परन्तु दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है और सूर्यकान्त शीशा सूर्य के प्रकाश को पाकर दूसरी वस्तु को जला दे सकता है। इसमें सूर्य का दोष या पक्षपात नहीं है।

इसी प्रकार जिनमें श्रद्धा, प्रेम नहीं है वे दर्पण की भाँति कम लाभ उठाते हैं और श्रद्धा, प्रेमवाले सूर्यकान्त शीशे की भाँति अधिक लाभ उठाते हैं सूर्य सब को स्वाभाविक ही प्रकार देता है, परन्तु उल्लू के लिये वह अंधकाररूप होता है। चन्द्रमा की सर्वत्र बिखरी हुई चाँदनी को चोर बुरा समझता है, इसमें सूर्य-चन्द्रमा का कोई दोष नहीं है, वे तो सब का उपकार ही करते हैं। इसी प्रकार महापुरुष तो सभी का उपकार करते हैं। किन्तु अत्यन्त दुष्ट और नीच प्रकृति वाले मनुष्य उल्लू की भाँति अपनी बुद्धिहीनता के कारण उनसे द्वेष करते हैं और चोर की भाँति उनकी निन्दा करके अनिष्ट फल को प्राप्त होते हैं– इसमें संतो का क्या दोष?

यदि कहा जाये कि ऐसे दयालु पुरुषों से जब प्रत्यक्ष ही सबको परम लाभ है, तब सभी लोग उनका संग और सेवन करके लाभ क्यों नहीं उठाते? इसका यह उत्तर हे कि वे लोग संतों के गुण, प्रभाव और तत्त्व को नहीं जानते। तत्त्व जाने बिना कोई लाभ नहीं उठा सकता। एक कुत्ता था। उसने चीनी के घड़े में मुँह डाल दिया। इतने में खड़खड़ाहट की आवाज़ हुई। कुत्ते ने भागना चाहा। इसी गड़बड़ में घड़ा फूट गया। घड़े की गर्दनी कुत्ते के गले में रह गई। कुत्ते को कष्ट पाते देखकर एक दयालु व्यक्ति हाथ में लाठी लेकर इसलिये कुत्ते के पीछे दौड़ा कि लाठी के घड़े की गर्दनी

तोड़ दी जाये तो कुत्ता कष्ट से छूट जाये। कुत्ते ने अपने पीछे लाठी लिये दौड़ते हुए व्यक्ति के असली उद्देश्य को न समझ कर यह समझा कि यह मुझे मारने को दौड़ रहा है। वह और भी जोर से भागा और उसका कष्ट दूर नहीं हो सका। इसी प्रकार महापुरुषों के तत्त्व को न समझकर उनकी क्रिया में विपरीत भावना कर सब लोग लाभ नहीं उठा सकते।

2. संतों में समता

ऐसे महापुरुषों की दया ही नहीं, समता भी बड़ी अद्‌भुत होती है, उन्हें यदि समता की मूर्ति कहें तब भी अत्युक्ति नहीं। भगवान् सम हैं और उन संतों की भगवान् में स्थिति है—इसलिये वे भी स्वाभाविक ही समता को प्राप्त हैं। जैसे सुख-दुःख की प्राप्ति होने पर अज्ञानी पुरुष की शरीर में समता रहती है वैसी ही संतों की चराचर सब जीवों में समता रहती है।

प्रश्न 1. — अज्ञानियों का देह में जैसा प्रेम है, क्या संतों का सारे चराचर में वैसा प्रेम हो जाता है? या संतों का जैसे देह में प्रेम नहीं है, वैसे क्या चराचर भूतों से उनका प्रेम हट जाता है? उनकी समता का क्या स्वरूप है?

उत्तर — उनकी समता वस्तुतः इतनी विलक्षण है कि उदाहरण के द्वारा वह समझाई नहीं जा सकती क्योंकि अज्ञानी को देह में जैसा अभिमान रहता है, संत का संसार में वैसा अभिमान नहीं रहता। इसलिये यह कहना नहीं बनता कि संत का देह की भाँति सबमें प्रेम हो जाता है, और सबमें प्रेम का अभाव इसलिये नहीं बतलाया जा सकता कि अज्ञानी लोग अपने देह के स्वार्थ के लिये जहाँ दूसरे का अहित कर डालते हैं, वहाँ ये संत पुरुष दूसरों के हित के लिये हँसते-हँसते अपने शरीर की बलि चढ़ा देते हैं। परन्तु उनकी वह समता इतनी अद्‌भुत है कि दूसरे के हित के लिये शरीर

का बलिदान करने पर भी उसमें कोई विषमता नहीं आ सकती ।

इसलिये किसी उदाहरण के द्वारा इस समता का स्वरूप समझाना बहुत कठिन है । तथापि लोक और वेद में समझाने के लिये ऐसा ही कहा जाता है कि जैसे अज्ञानी को सुख-दुःख की प्राप्ति में सारे शरीर में समता होती है, वैसे ही संतों को सब जीवों के सुख-दुःख की प्राप्ति में ममता और अहंकार न होते हुए भी समता होती हैं अर्थात् जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होता है, संतजन ममता और अहंकार से रहित होने पर और अपने सुख-दुःख से सुखी-दुःखी से प्रतीत न होने पर भी दूसरे समस्त जीवों के सुख-दुःख में सुखी-दुःखी प्रतीत होते हैं । ऐसी स्थिति मनुष्य को प्रतिपक्ष-भावना से प्राप्त होती है । बहुत से लोग संतों की इस समदृष्टि के रहस्य को न जानकर समदृष्टि सम्बन्धी शास्त्र वाक्यों का दुरुपयोग करते हैं ।

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से ही देखने वाले होते हैं ।' इसका उलटा अर्थ करते हुए वे लोग कहते हैं कि 'खानपान आदि में समव्यवहार करना ही समदर्शन है । परन्तु ऐसा समव्यवहार न तो सम्भव है और न आवश्यक है और न भगवान् के कथन का उद्देश्य ही है । क्योंकि हाथी सवारी के योग्य है, कुत्ता सवारी के योग्य नहीं । गौ का दूध सेवन योग्य है, कुतिया और हथिनी का नहीं । इन सबके खाद्य, व्यवहार, स्वरूप, आकृति, जाति और गुण एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण और भिन्न होने के कारण इन सबमें समान व्यवहार न हो सकता है, न करना चाहिये और न करने के लिए कोई कह ही सकता है । जैसे अपने लिए सुख और सुख के साधन की प्राप्ति, और दुःख और दुःख के साधन की निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही सबमें एक ही आत्मा समरूप से स्थित है, इस

बात का अनुभव करते हुए, सबके लिये उनका जिस प्रकार से हित हो उसी प्रकार से यथायोग्य व्यवहार करना ही वास्तविक समता है ।

जैसे हम अपने देह में हाथों से ग्रहण करने का, आँखों से देखने का, कानों से सुनने का—इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा यथायोग्य विभिन्न व्यवहार करते हैं, परन्तु आत्मीयता की दृष्टि से सबमें समता है, वैसे ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए आत्मीयता की दृष्टि से सबमें समता रहनी चाहिये । शास्त्रीय विषमता व्यवहार मे दूषित नहीं है, बल्कि परमार्थ में सहायक है । जिस विषमता से किसी का अहित हो, वही वास्तविक विषमता हैं स्त्रियों के अवयव एक-से होने पर भी माता, बहिन और पत्नी के साथ सम्बन्ध के अनुसार ही यथा-योग्य विभिन्न व्यवहार होते हैं और यह विषमता शास्त्रीय और न्यायसंगत होने से सेवनीय है ।

इतना ही नहीं, परम पूजनीया माता में पूज्यभाव होने पर भी रजस्वला या प्रसव की स्थिति में हम उसका स्पर्श नहीं करते, करने पर स्नान करने की विधि है । ऐसी विषमता वस्तुतः विषमता नहीं हैं इसके मानने में लाभ है और न मानने में हानि । घर में कुत्ते को रोटी देते हैं, गाय को घास देते हैं, बीमार को दवा दी जाती है परन्तु सभी को घास, दवा या रोटी समान नहीं दी जाती । यह विषमता विषमता नहीं है । जैसे कोई भी अपने आत्मा का जान-बूझकर अहित नहीं करता, उसे दुःख नहीं देता और अपना कल्याण चाहता है एवं सुख तथा कल्याण के लिये चेष्टा करता है—इसी प्रकार किसी को दुःख न पहुँचाकर, अहित न चाहकर सबका कल्याण चाहना और सुख पहुँचाने की चेष्टा करना ही समता है । फिर व्यवहार में यथायोग्य कितनी ही विषमता क्यों न हो ।

मान लीजिये, हमसे कोई मित्रता करता है और दूसरा कोई वैर करता है । उन दोनों के न्याय का भार प्राप्त हो जाये तो हमें

पक्षपातरहित होकर न्याय करना चाहिये, बल्कि कहीं अपने मित्र को समझाकर उसकी सम्मति से शत्रुता रखनेवाले का कुछ पक्ष भी कर लें तो वह भी समता ही है । अनुकूल हितकर पदार्थ के प्राप्त होने पर सबके लिये समभाव से विभाग करना चाहिये, परन्तु कहीं दूसरों को अधिक और श्रेष्ठ वस्तु दे दें, स्वयं कम लें—निकृष्ट लें या बिल्कुल ही न लें तो यह विषमता विषमता नहीं है । क्योंकि इसमें किसी का अहित नहीं है, बल्कि अपने स्वार्थ का त्याग है ।

इसी प्रकार विपत्ति और दुःख की प्राप्ति में सबके लिये न्याययुक्त समविभाग करते समय भी यदि कहीं दूसरों को बचाकर विपत्ति या दुःख अपने हिस्से में ले लिया जाये तो यह विषमता भी विषमता नहीं है, बल्कि स्वार्थ का त्याग होने के कारण इसमें उलटा गौरव है । प्रभु में स्थित होने के कारण संत में प्रभु की समता का समावेश हो जाता है । अतएव इस अनोखी समता का पूरा रहस्य तो प्रभु को प्राप्त करने पर ही मनुष्य समझ सकता है ।

मान-अपमान और निन्दा-स्तुति में भी संत में समता रहती है,किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यवहार में सब जगह समता ही का प्रदर्शन हो । हृदय में मान-अपमान की प्राप्ति में हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते ।

प्रश्न 1. — साधारण मनुष्यों को निन्दा और अपमान की प्राप्ति में जैसा दुःख होता है, क्या संतों को वैसा ही स्तुति या मान में होता है । अथवा स्तुति या मान में लोगों को जैसी प्रसन्नता होती है ? इन दोनों में संत की समता में हार्दिक भाव कैसा होता है ?

उत्तर — दोनों से ही विलक्षण होता है, अर्थात् मान-अपमान और निन्दा-स्तुति में यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार भेद होने पर भी उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते ।

प्रश्न 2. — तो क्या अपमान और निन्दा का प्रतिकार भी संत करते हैं ?

उत्तर – यदि अपमान या निन्दा करने वाले का या अन्य किसी का हित हो तो प्रतिकार भी कर सकते हैं ?

प्रश्न 3. – क्या वे मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति को व्यवहार में स्वीकार कर लेते हैं या उनका विरोध ही करते हैं ?

उत्तर – देश, काल और परिस्थिति को देखकर शास्त्रनुकूल दोनों ही बातें कर सकते हैं । विरोध करने में हित होता है तो विरोध करते हैं और न्याय से प्राप्त होने पर स्वीकार भी कर लेते हैं ।

प्रश्न 4. – तब फिर व्यवहार में महापुरुष की पहचान कैसे हो ?

उत्तर – व्यवहार की क्रिया से महापुरुष को पहचानना बहुत कठिन है । इतना ही जान सकते हैं कि ये अच्छे पुरुष हैं । फिर चाहे वे सिद्ध हों या साधक ! दोनों को ही संत मानने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि साधक भी तो सिद्ध संत बनने वाला है । वस्तुतः जिसका व्यवहार सत् है वही संत है । लाभ-हानि और जय-पराजय में भी संत की विलक्षण समता होती है ।

प्रश्न 5. – साधारण व्यक्तियों को जैसे लाभ और जय में प्रीति-प्रसन्नता होती है, तो क्या संत को इसके विपरीत हानि और पराजय में प्रसन्नता होती है ? अथवा साधारण मनुष्यों को जैसे हानि-पराजय में द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं, तो क्या संत को लाभ और जय में द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं ?

उत्तर – नहीं, उसकी समता इन सबसे विलक्षण है । क्योंकि वे हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि समस्त विकारों से सर्वथा रहित होते हैं ।

प्रश्न 6. – ऐसी अवस्था में क्या हानि-पराजय होने पर साधारण मनुष्यों की भाँति संत का व्यवहार द्वेष, ईर्ष्या और भय का सा भी हो सकता है ?

उत्तर – यदि संसार का हित हो, या न्याययुक्त मर्यादा की रक्षा हो तो हो भी सकता है। परन्तु उनके मन में किसी प्रकार का विकार निश्चय ही नहीं होता।

प्रश्न 7. – जो कुछ भी बाहरी क्रिया होती है वह पहले मन में आती है। बिना मन में आये बाहरी क्रिया कैसे सम्भव है?

उत्तर – नाटक के पात्रों में जैसे सभी प्रकार के बाहरी व्यवहार होते हैं, परन्तु उनके मन में अभिनय-बुद्धि के अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं होती, इसी प्रकार संतों के द्वारा नाटकवत् बाहरी व्यवहार होने पर भी उनके मन में वस्तुतः कोई विकार नहीं होता।

इसी प्रकार शीतोष्ण, सुख-दुःख आदि प्रिय-अप्रिय सभी पदार्थों के सम्बन्ध में उनका समभाव रहता है। सबमें एक अखण्ड नित्य भगवत् स्वरूप समता सदा-सर्वदा सर्वत्र बनी रहती है।

3. संतों में विशुद्ध विश्वप्रेम

संत में केवल समता ही नहीं, समस्त विश्व में हेतु और अहंकाररहित अलौकिक विशुद्ध प्रेम भी होता हैं जैसे वासुदेव का सब में अहैतुक प्रेम है, वैसे ही वासुदेव की प्राप्ति होने पर संत का भी समस्त चराचर जगत् में अहैतुक प्रेम हो जाता है। क्योंकि साधन-अवस्था में वह सबको वासुदेवस्वरूप ही समझकर अभ्यास करता है। अतएव सिद्धावस्था में तो उसके लिये यह बात स्वभावसिद्ध होनी ही चाहिये।

प्रश्न 1. – ऐसा अहैतुक प्रेम भक्ति के साधन से होता है या ज्ञान के साधन से?

उत्तर – दोनों में से किसी एक के साधन से ही सकता है। जो भक्ति का साधन करता है, वह सब भूतों को प्रभु समझकर अपने देह और प्राणों से बढ़कर उनमें प्रेम करता है; और जो ज्ञान का साधन करता है, वह सम्पूर्ण भूतों को अपना आत्मा समझकर उनसे देह, प्राण और आत्मा के समान प्रेम करता है।

प्रश्न 2. – जैसे एक अज्ञानी व्यक्ति का अपने शरीर, घर, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदि में प्रेम होता है, क्या संत पुरुष का सारे विश्व में वैसा हो प्रेम होता है ?

उत्तर – नहीं, इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। अज्ञानी मनुष्य तो शरीर, घर, स्त्री, पुत्र आदि के लिये नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और परोपकार तक का त्याग कर देता है तथा अपने देह, प्राण की रक्षा के लिये स्त्री, पुत्र, धन आदि का भी त्याग कर देता है, परन्तु संत तो नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और विश्व के लिये केवल स्त्री, पुत्र, धन का ही नहीं, अपने शरीर का भी त्याग कर देते हैं। वे विश्व की रक्षा के लिये पृथ्वी का, पृथ्वी की रक्षा के लिये द्वीप का, द्वीप के लिये ग्राम का, ग्राम के लिये कुटुम्ब का, कुटुम्ब और उपर्युक्त सब के हित के लिये अपने प्राणों का आनन्दपूर्वक त्याग कर देते हैं! फिर धर्म, ईश्वर और समस्त विश्व के लिये त्याग करना तो उनके लिये कौन बड़ी बात है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा के लिये सबका त्याग कर देता है, वैसे ही संत पुरुष धर्म, ईश्वर और विश्व के लिये सब कुछ त्याग कर देते हैं, क्योंकि धर्म, ईश्वर और विश्व ही उनका आत्मा है। परन्तु अज्ञानी का जैसे देह में अहंकार और स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब में ममत्व होता है, वैसा संत का अहंकार और ममत्व कहीं नहीं होता। उनका सब में हेतुरहित विशुद्ध और अत्यन्त अलौकिक अपरिमित प्रेम होता है।

प्रश्न 3. – भक्ति मार्ग पर चलने वाले भक्त का सम्पूर्ण चराचर में प्राणों से बढ़कर अत्यन्त विलक्षण प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है।

उत्तर – इसलिये होता है कि ये सारे विश्व को अपने इष्ट-देव का साक्षात् स्वरूप समझते हैं। वे भक्त समस्त विश्व के लिये अपने तन, मन, धन को न्योछावर किये रहते हैं। अपनी चीजें स्वामी के

काम में आती देखकर वे इस भाव से बड़े ही आनन्दित होते हैं कि स्वामी ने कृपापूर्वक हमको और हमारी वस्तुओं को अपना लिया। भक्त अपना यह ध्येय समझता है कि हमारी सब चीजें भगवान् ही हैं, इसलिये उन्हीं की सेवा में लगनी चाहिये। परन्तु जब तक भगवान् उनको काम में नहीं लाते, ऐसा भक्त नहीं समझता, और जब तक भगवान् ने स्वीकार नहीं किया, तब तक वह अपने ध्येय की सिद्धि नहीं मानता। परन्तु जब वे वस्तुएँ प्रसन्नतापूर्वक विश्वरूप भगवान् के काम में आ जाती है तब वह अपने ध्येय की सिद्धि समझ कर परम प्रसन्न होता है। विश्वरूप भगवान् की प्रसन्नता में ही उसकी प्रसन्नता है। इसीलिये वह अपने प्राणों से बढ़कर समस्त चराचर विश्व में प्रेम करता है। यदि कहा जाये कि फिर उसका प्रेम हेतु रहित इष्ट को सन्तुष्ट और प्रसन्न करने के हेतु से प्रेम करता है? तो इनका उत्तर यह है कि यह हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है यह पवित्र भाव हैं यही मनुष्य का परम लक्ष्य होना चाहिये।

जो प्रेम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को लेकर होता है, वही कलंकित और दूषित है। परन्तु जब दूसरे के हित के लिये किया जाने वाला प्रेम भी पवित्र माना जाता है, तब दूसरे सबको साक्षात् भगवान् का स्वरूप समझ कर ही उनसे प्रेम करना तो परम पवित्र प्रेम है।

प्रश्न 4. – ज्ञान के मार्ग में चलने वाले का देह, प्राण और आत्मा के समान प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उत्तर – ज्ञान के मार्ग में चलने वाला सबके आत्मा को अपना आत्मा ही समझता है। 'सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मावाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में बर्फ में हल के सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

जब सब को वह आत्मा ही समझता है तब सारे विश्व में आत्मा के सदृश उसका प्रेम होना युक्तियुक्त ही है। इसीलिये जैसे देह को आत्मा मानने वाला अज्ञानी अपने ही हित में रत रहता है, वैसे ही संत पुरुष सम्पूर्ण भूतों के हित में रत रहते हैं और ऐसे सर्वभूतहित में रत ज्ञानमार्गी साधक ही निर्गुण परमात्मा को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी तरह वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप, सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्द ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव वाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

परन्तु जैसे अज्ञानी मनुष्य का देह में अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति होती है, वैसे संत का विश्व में अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति नहीं होती। उनका विश्वप्रेम विशुद्ध ज्ञानपूर्ण होता है। अहंकार, अभिमान, ममता, आसक्ति आदि दोषों को लेकर अथवा व्यक्तिगत स्वार्थवश जो प्रेम होता है, वही दूषित समझा जाता है। क्षणभंगुर, नाशवान्, दृश्य पदार्थों को सत्य मानकर उनके सम्बन्ध से होने वाले भ्रमजन्य सुख को सुख मानकर उनमें प्रेम करना अज्ञानपूर्ण प्रेम है। ये दोनों बातें संत में नहीं होतीं—इसलिये उस ज्ञानी संत का प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण होता है।

प्रश्न 5. — जैसे भक्त सम्पूर्ण विश्व को साक्षात् अपना इष्टदेव भगवान् समझकर काम पड़ने पर विश्वहित के लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यसहित अपने-आप को बलि वेदी पर चढ़ा देता है, क्या ज्ञानमार्ग पर चलने वाला भी अवसर आने पर ऐसा ही कर सकता है?

उत्तर – हाँ, कर सकता है । क्योंकि प्रथम तो उसकी दुष्टि में ऐश्वर्य और देह का कोई मूल्य ही नहीं है । और दूसरे, अज्ञानी मनुष्य ऐश्वर्य और देह को आनन्ददायक मानकर मूल्यवान् समझते हैं । अतएव उनकी दृष्टि से उन्हें सुख पहुँचाने के लिये ज्ञानी पुरुष ऐश्वर्य और देहका त्याग कर दें–इसमें आश्चर्य और शंका ही क्यों होनी चाहिये ?

ज्ञानमार्ग चलने वाला पुरुष समस्त चराचर विश्व को अपने चिन्मय आत्मरूप से ही अनुभव करता हैं अतएव उसका सबके साथ आत्मवत् व्यवहार होता है । जैसे किसी समय अपने ही दाँतों से जीभ के कट जाने पर कोई भी मनुष्य दाँतों को दण्ड नहीं देना चाहता, वह जानता है कि दाँत और जीभ दोनों मेरे ही हैं । जीभ में तो दर्द है ही, दांतों में और दर्द क्यों उत्पन्न की जाये । इसी प्रकार ज्ञानमार्गी संत सबको अपना आत्मा समझने के कारण किसी के द्वारा अनिष्ट किये जाने पर भी उसे दण्ड देने की भावना नहीं करते । कभी-कभी यदि ऐसी कोई बात देखी जाती है तो उसका हेतु भी आत्मोपम प्रेम ही होता है, जैसे अपने दूसरे अच्छे अंगों की रक्षा के लिये मनुष्य समझ-बूझकर सड़े हुए अंग को कटवा देने में अपना हित समझता है, इसी प्रकार संतों के द्वारा भी विश्वहितार्थ स्वाभाविक ही कभी-कभी ऐसी क्रिया होती देखी जाती है ।

संतों के उपर्युक्त विश्वप्रेम का तत्त्व और रहस्य बड़ा ही विलक्षण हैं वास्तव में जो संत होते हैं, वे ही इसको जानते हैं । ऐसे संतों के गुण, आचरण प्रभाव और तत्त्व का अनुभव उनका संग और सेवन करने से ही हो सकता है ।

4. संतों के आचरण और उपदेश

प्रश्न 1. – ऐसे संत-महात्माओं के आचरण अनुकरणीय हैं या उपदेश ?

उत्तर – आचरण और उपदेश दोनों ही अनुकरणीय हैं। केवल आचरण और उपदेश में भिन्नता प्रतीत हो तो वहाँ उपदेश को ही प्रधान समझा जाता है। यद्यपि महापुरुषों के आचरण शास्त्र के अनुकूल ही होते हैं और शास्त्रानुकूल ही वे उपदेश आदेश करते हैं, परन्तु उन पुरुषों के तत्त्व और रहस्य को न जानने के कारण जो-जो आचरण शास्त्र के अनुकूल न प्रतीत हों, उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यद्यपि उन महापुरुषों के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथापि स्वाभाविक ही वे लोगों पर दया कर लोकहित के लिये शास्त्रानुकूल आचरण करते हैं। उनसे शास्त्रविपरीत आचरण होने का तो कोई कारण ही नहीं है। परन्तु शास्त्र के अनुकूल जितने कर्म होने चाहिये, उनमें स्वभाव की उपरामता के कारण अथवा शरीर का बाह्यज्ञान न रहने के कारण कमी प्रतीत हो तो उनको इसके लिये कोई बाध्य भी नहीं कर सकता, क्योंकि वे विधि-निषेधरूप शास्त्र से पार पहुँचे हुए हैं। उन पर 'यह ग्रहण करो' और 'यह त्याग करो' –इस प्रकार का शासन कोई भी नहीं कर सकता। उनके गुण और आचरण ही सदाचार हैं। उनकी वाणी–उपदेश-आदेश ही वेदवाणी है। फिर उनके लिये विधान करने वाला कौन? अतएव उनके द्वारा होने वाले आचरण सर्वथा अनुकरणीय ही हैं, तथापि जिस आचरण में सन्देह हो, जो शास्त्र के विपरीत प्रतीत होता हो, उसके लिये या तो उन्हीं पुरुषों से पूछकर सन्देह मिटा लेना चाहिये अथवा उसको छोड़कर जो शास्त्रानुकूल प्रतीत हों, उन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिये।

प्रश्न 2. – जब ऐसे महापुरुषों पर विधि-निषेध शास्त्र का कोई शासन ही नहीं, तब वे कर्मों का आचरण क्यों करते हैं?

उत्तर – लोगों पर दयाकर केवल लोकहित के लिये। स्वयं

वासुदेव भी तो लोकहितार्थ कर्माचरण करते हैं । 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार वर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार वर्तते हैं । अतएव हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ ।'

इस आदर्श के अनुसार यदि संत पुरुष आचरण करें तो इसमें उनका गौरव है और लोगों का परम कल्याण है और इसीलिये संतों के द्वारा स्वाभाविक ही लोक हितकर कर्म होते हैं । ऐसे संतों का जीवन लोगों के उपकार के निमित्त ही होता है । अतएव लोगों को भी इस प्रकार के संत बनने के लिये भगवान् की शरण होकर पद-पद पर भगवान् की दया का दर्शन करते हुए हर समय प्रसन्नचित्त रहना चाहिये । भगवान् को यन्त्री मानकर अपने को उनके समर्पण करके उनके हाथ का यन्त्र बनकर उनकी आज्ञानुसार चलना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि जो इस प्रकार स्वयं को भगवान् के अर्पण कर देता है, उसके सारे आचरण भगवत् कृपा से भगवान् के अनुकूल ही होते हैं– यही शरणागति की कसौटी है । इस शरणागति से ही भगवान् की अनन्त दया के दर्शन होते हैं और भगवान् की दया से ही देवताओं के द्वारा भी पूजनीय परम दुर्लभ संत भाव की प्राप्ति होती है ।

6. वेद में संत

ऐसा हतभाग्य कौन प्राणी होगा जो विविध दुःख-निवारण के लिये सचेष्ट न हो । त्रिविध दुःख को निवारण तभी होगा जब उसके कारण अज्ञान का ब्रह्मविद्या के द्वारा नाश हो । ब्रह्मविद्या का उदय संत कृपा पर निर्भर है । इसी भाव से गर्ग संहिता में कहा है–

'नृणामन्तस्तमोहरी साधुरेव न भास्करः'

अर्थात् 'बाह्य अन्धकार का नाश सूर्य निःसंदेह कर सकता है किन्तु मनुष्यों के आन्तरिक नाश सूर्य निःसन्देह कर सकता है किन्तु मनुष्यों के आन्तरिक अन्धकार का नाश संत ही कर सकते हैं, सूर्य नहीं ।' उन संतों के लक्षण, संत शब्द का अर्थ क्या है, वह शब्द साधु है या अपभ्रंश, उसका वेद में प्रयोग है या नहीं, यदि है तो कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी इन सबके लिये या किसी एक के लिये, इत्यादि विषयों की मीमांसा इस लेख द्वारा की जाती है ।

इस शब्द का ऋग्वेद में बहुत स्थलों में प्रयोग हुआ है । 'फलप्रदाताओं में श्रेष्ठ अग्निदेव ! आप गृहपति सम्बन्धी रूप से युक्त हैं, ऋतुदेव के साथ यज्ञ के निर्वाहक हैं । देवकृपाकांक्षी यजमान के लिये देवयजन को निर्विघ्न सम्पादन करें । इस मंत्र में अग्नि देव के लिये फलदाताओं में श्रेष्ठ अर्थ को लेकर सन्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है । ब्रह्मवित् महात्माओं का देवदुर्लभ ब्रह्मविद्यारूपी फल देने के कारण फलदाताओं में सर्वोच्च स्थान है । अतः लोग अधिकतर उन्हें ही सन्त्य कहने लगे । वही शब्द कुछ विकृति के साथ संत शब्द के रूप में आजकल महात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

विद्यमान् वस्तु तथा श्रेष्ठ वस्तु के बोधन के लिये सत् शब्द प्रयुक्त होता है ।' अर्थात सत्ता और श्रेष्ठता सत् शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है । वेदान्त सिद्धान्त में किसी पदार्थ को भी ब्रह्म को छोड़ कर स्वतन्त्र सत्ता नहीं, ब्रह्म कल्पित समस्त विश्व में शुक्तिकल्पित रजत में इदंता के समान अधिष्ठान ब्रह्म सत्ता का ही भान होता है, अतः त्रिकालाबाध्य ब्रह्मतत्त्व ही पारमार्थिक सत्तायुक्त होने से सत् शब्द का वाच्यार्थ है ।

जिस तत्त्व को ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं, कर्मयोगी और भक्त उसी को ईश्वर कहते हैं । अतः माया की मोहक शक्ति को पददलित कर अशास्त्रीय पथ में प्रवर्तक लोभमोहादि राजस-तामस भावों की दासता से मुक्त हो शासत्रविहित मार्ग की ओर अग्रसर होने का जो

सतत् प्रयास करते हैं वे महापुरुष, कर्मयोगी, भक्त, ज्ञानी, किसी कोटि के क्यों न हों, सत्-परम तत्त्व पर निष्ठा रखने के कारण सत् शब्द द्वारा व्यपदिष्ट होते हैं। अर्थात् प्रथम सत्तारूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर ब्रह्मवाचक सत् शब्द का प्रयोग उनमें लक्षणया होता है। सत् शब्द का प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'सन्तः' ऐसा रूप बनता है। उसी का अपभ्रंश संत शब्द सत्पुरुषों के लिये हिन्दी में प्रयुक्त होता हैं द्वितीय श्रेष्ठता रूप प्रवृत्ति निमित्त पक्ष में सत् शब्द का प्रयोग उनमें मुख्य ही है, गौण नहीं है। कारण कि अष्ट आत्मगुण तथा वैराग्यादि सात्त्विक भावसम्पन्न होने से वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

बस, किसी तरह भी संत शब्द को सिद्ध किया जाये, सर्वथा उसका अर्थ सत्पुरुष है। वे सत्पुरुष दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिसेवी और निवृत्तिसेवी कह सकते हैं। भक्तों का सम्बन्ध दोनों ओर है। अतएव श्रीकृष्ण ने गीता में कर्म और ज्ञान के मध्य में भक्ति को स्थान दिया है।

कर्मयोग का अलौकिक सामर्थ्य है। आत्मोन्नतिप्रासाद के उच्चातिउच्च शिखरपर आरूढ़ होने के लिये कर्मयोग ही प्रशंसनीय सोपान है। ऋभु नामके संत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे मनुष्य ही थे परन्तु उनकी कर्मयोग के प्रभाव से देवों में गणना हुई। इतना ही क्यों, अग्निष्टोमादि बड़े-बड़े यज्ञों में यजमानदत्त हवियों के भोजन में इन्द्रादि देवों के समान उन्हें अधिकार प्राप्त हुआ।

सारे संसार का कारण अपरिच्छिन्न नित्य परमात्मा जो जीवात्मा का अपना स्वरूप है, भिन्न नहीं, काल नाम उसी का है। प्रतयेक वस्तु से सम्बद्ध कुम्भ की तरह परिच्छिन्न अहोरात्र-मासादिरूप जन्यकाल उसी में स्थित है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य अपने कारण में रहा करते हैं। इस विषय की पुष्टि में वेद पुरुष विद्वत्

अनुभव को प्रमाणित करते हैं। उस जन्यकाल को सत्पुरुष हम अहोरात्रादिभेद से अनन्त प्रकार का ठीक अनुभव करते हैं अथवा जन्यकाल का आधार उस महाकाल परमात्मा को श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन अनेक साधनों से संत सद्ब्रह्म के उपासक हम साक्षात्कार करते हैं। वै, नु शब्द श्रवणादिको की ब्रह्मसाधनता की प्रसिद्धि के प्रदर्शक हैं। इस पक्ष में संत इस शब्द का अर्थ सद्ब्रह्म के उपासक हैं।

इस मंत्र में कैसी उत्तम रीति से निवृत्ति सेवी संतों का कैसा चित्र खींचा गया है। वे सदा सद्ब्रह्म के ध्यान में तत्पर एवं श्रवणादि साधनों द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के सम्पादनार्थ सदा सचेष्ट रहते हैं। मुनि, कवि, धीरादि अन्य नाम भी संतों के वेद में मिलते हैं। उनमें से मुनि शब्द निवृत्तिसेवी संतों के लिये प्रायः प्रयुक्त होता है। निवृत्तिसेवी संत सदा प्रभु का अवलम्बन लेते हैं। वे कभी भूलकर भी अन्य की ओर नहीं ताकते। उनमें कतिपय दिगम्बर, और कुछ वल्कल, कषाय, अम्बरादि वस्त्र धारण किया करते हैं। वे अपने हिरण्यगर्भ, प्रजापति आदि देवों ने प्राप्त किया।

7. संतलक्षण

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।।6।।

—तुलसीदास कृत रामचरितमानस (बालकाण्ड)

विधाता ने इस जड़-चेतन विश्व को गुण-दोषमय रचा है, परन्तु संत रूपी हंस दोष रूपी जल को छोड़कर गुण रूपी दूध का ही ग्रहण करते हैं। इसलिये वे गुणों के भण्डार बन जाते हैं। निम्नलिखित तीन सूत्रों के द्वारा संत के निष्कृष्ट लक्षण बतलाने का प्रयत्न किया जाता है। पहला सूत्र है—

वृक्षारोहणदक्षवत्।।1।।

इसका तात्पर्य यह है कि वृक्षपर चढ़ने में दक्ष किसी मनुष्य की तरह मन्त्र, तन्त्र तथा चमत्कारों को जानने वाला व्यक्ति संत नहीं होता ।

ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति एक बहुत ऊँचे वृक्ष के ऊपर देखते-देखते अनायास चढ़ जाता है । वह पुरुष है या स्त्री, पण्डित है या पामर, भक्त है या अभक्त, ज्ञानी है या अज्ञानी, इससे उसको कोई वास्ता नहीं; उसके शरीर में बल है और उसने अभ्यास किया है, इस कारण वह वृक्ष पर चढ़ने में समर्थ बन गया है । अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्य में वृक्ष पर चढ़ने की जो सामर्थ्य है, वह उसके शरीर बल तथा अभ्यास का ही फल है, वह उसके शरीरबल तथा अभ्यास का ही फल है, उसकी साधुता या संतपन का फल नहीं । सचमुच संसार में कौन ऐसा मूर्ख होगा जो यह कहे कि संत ही वृक्ष पर चढ़ सकता है ?

इसी प्रकार जो लोग मन्त्र-तन्त्र तथा औषधियों के द्वारा अपनी या दूसरों की रोगनिवृत्ति अथवा और नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, प्राणायामादि के अभ्यास द्वारा भिन्न-भिन्न चमत्कार दिखलाते हैं और वेद-शास्त्रों का अनुशीलन करके अत्यन्त मधुर अत्यन्त आकर्षक रीति से शास्त्र सिद्धान्तों का प्रवचन तथा शास्त्र मर्मों का समुद्घाटन करते हैं, वे सब सामर्थ्य भी उनके मन-बुद्धिबल एवं उन-उन विद्याओं के अभ्यास के ही फल हैं, न कि उनकी साधुता के । वृक्षारोपण में समर्थ व्यक्ति की भाँति इन विभिन्न क्रियाओं में पटुताप्राप्त व्यक्ति भी इन क्रियाओं की सामर्थ्य रखने मात्र से संत नहीं कहला सकते । क्योंकि जैसे वृक्ष पर चढ़ने की क्रिया से साधुता का कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इन कुशलताओं का भी साधुता के साथ कोई सम्पर्क नहीं है ।

संतपन का हेतु, स्वरूप अथवा फल कुछ भी न जानने वाले अबुद्धिमान् लोग भले ही इन मंत्र तन्त्रविशारदों, पुत्र धन आदि देने वालों, श्वास रोककर अद्‌भुत क्रियाएँ रचने वालों, पुस्तकें पढ़कर पात्र-अपात्र सबको ब्रह्मज्ञान बताने वालों और बिना अन्न-वस्त्र के काष्ठखण्ड की तरह किसी निर्जन प्रदेश में पड़े रहने वालों को सच्चे संत मानें, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्तियों की दृष्टि में इस प्रकार की वृत्तियाँ, चाहे वे धन-मान की प्राप्ति के लिये हों अथवा और किसी निमित्त हों?, सभी साधुता के समीप पहुँचाने में महान् प्रतिबन्धक दें। सच्चे साधु या संत के लिये तो–

वर्चस्कवदुपेक्षाविषया विषयाः।।24।।

सारे के सारे विषय स्वविष्ठा की तरह उपेक्ष्य त्याज्य हैं। श्रीसुरेश्वराचार्य जी कहते हैं कि त्याग किये हुए और दोष रूप में निश्चित किये हुए मल को यदि कोई दोष बतलावे तो इसमें मल के त्याग करने वाले पुरुष की क्या हानि है? इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप से अलग किये हुए एवं दोषरूप में निर्णीत किये हुए स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को कोई दोष बतलावे तो उनसे अलग हुए विवेकी पुरुष की क्या हानि है और वह क्योंकर इससे विक्षुब्ध हो सकता है? जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्होंने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने स्वरूप से अलग जान लिया है, उनको लोग यदि ऐसा कहें–ये नीरोग नहीं, वज्रकाय नहीं, तेजस्वी नहीं, मंत्र-तंत्रादि के वेत्ता नहीं, नभ-जटाधारी नहीं, योगाभ्यासी नहीं, इन्हें आकाश में उड़ना नहीं आता, सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त ही नहीं हैं, ये वेदान्तादि शास्त्रविषयों पर प्रवचन नहीं कर सकते, आदि–तो इससे उनकी कुछ भी हानि नहीं होती।

बात यह है कि देहादिकों में तन्मय होकर उनको अपना स्वरूप मानने वाला अविवेकी पुरुष ही उनके दोष-निरसन तथा गुणाधान में सतृष्ण होता हैं इस प्रकार की तृष्णावाला पुरुष ही अपनी विद्या, शम, दम, तप, संयम, प्रेम, समाधि आदि सारी

अध्यात्मसाधनाओं को देहादि के उत्कर्ष और विभूति-वर्धन के काम में लगाता हैं ऐसा अविवेकी, तृष्णाकुल साधक अपने को संत मानने पर भी यथार्थ संतभाव में कभी नहीं पहुँच सकता। क्योंकि अविवेक और तृष्णा ये दोनों यथार्थ संतभाव के बहुत बड़े विघातक हैं। इनके रहते हुए जितनी भी साधनाएँ होती हैं, वे सभी तृष्णापूर्ति के लिये अर्थात् उपर्युक्त सांसारिक कुशलताओं के सम्पादन के लिये होती हैं और साधक इसी में अपने को कृतार्थ भी मान लेता है।

स्थूल अथवा सूक्ष्म देहों की सामर्थ्यसिद्धि के लिये तृष्णा रखना और तद्नुसार व्यर्थ साधनाएँ करना महान् अनर्थ का हेतु है। क्योंकि इससे उसकी अज्ञानग्रन्थि और भी मजबूत होती है और वह संसार में फँसा रहतना हैं संतभाव की प्राप्ति चाहने वाले साधकों के लिये ऐसी तृष्णा आत्यन्तिक रूप से त्याज्य है। जिस प्रकार बाह्य कनक, कामिनी आदि की उपेक्षा करके विविध साधनाओं में प्रवृत्त हुआ जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक साधनाजन्य कुशलताओं एवं विभूतियों की भी सर्वथा विष्ठावत् उपेक्षा करना आवश्यक हैं तभी सच्चे संत भाव की प्राप्ति हो सकती है।

अब प्रश्न यह है कि जब पूर्वोक्त नाना प्रकार की कुशलताएँ एवं विशेष शक्तियाँ सच्चे संतभाव के लक्षण नहीं हैं, तब फिर संत के और लक्षण क्या हैं? संत का व्यावर्तक धर्म क्या है? इसका उत्तर यह सूत्र दे रहा है—

सर्वकामानां विप्रमोक्षः। सर्वकामानां विप्रमोक्षः।।3।।

अर्थात् कामनाओं की निःशेष निवृत्ति ही संत का लक्षण है। कामनाएँ जब सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं, तभी पुरुष सच्चे संतभाव को प्राप्त होता है। तूष्णींभाव, निद्रा, समाधि आदि अवस्थाओं में अशेष कामनाओं का तात्कालिक नाश हो जाने पर उनका आत्यन्तिक नाश तो परमात्मभाव में अवस्थिति हुए बिना-चाहे वह प्रेम से हो या ज्ञान से हो कभी नहीं होता। आकाश में उड़ना, भूमि के अंदर रहना, मंत्रादि अथवा आशीर्वाद से अर्थियों

को पुत्र-धनादि देना, विवस्त्र होकर शीतोष्णादि सहना, इत्यादि नाना प्रकार की सिद्धियाँ रहें या न रहें, इनसे संत पद का सम्बन्ध नहीं हैं संत पद पर तो परमात्मभाव में अवस्थिति, तन्निमित्तक सर्व कामनाओं की निवृत्ति एवं तजन्य नित्य-निरतिशय शान्ति से ही अधिरूढ़ हुआ जाता है। संतभाव के साथ पूर्वोक्त विभूतियों का कुछ भी व्याप्य व्यापकभाव नहीं है, किन्तु सर्व कामनाओं की निवृत्ति का अवश्य ही उसके साथ व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। इसलिये सर्वविद्वत्सम्मत सिद्धान्त यही है कि परमात्मनिष्ठा और तज्जनित समस्त कामनाओं की निवृत्ति ही संतलक्षण है। सर्वतृष्णाओं का विध्वंस ही संत को असंत से व्यावर्तित कराने वाला धर्म है।

जिस समय अन्तःकरण में स्थित सारी कामनाएँ समूल विनष्ट हो जाती हैं, उस समय प्राणी मुक्तभाव को अर्थात् संतभाव को प्राप्त हो जाता है। बस, सभी श्रुतियों का यही उपदेश है, यहीं वे समाप्त हो जाती हैं, इसी में उनकी चरितार्थता हैं श्रीमद्भगवतगीता भी 'स्थितप्रज्ञ' नाम से संतलक्षण बतलाती है। भगवान् ने 'गुणातीत' के रूप में भी संतलक्षण का ही विचार करते हुए 'सर्व कामनाओं की निवृत्ति' उनका असाधारण धर्म बतलाया है। इसी 'सर्व कामनाओं की निवृत्ति' रूपी महान् गुण के कारण ही दत्तात्रेय, व्यास, शुक, अक्रूर, विदुर आदि प्राचीन और ज्ञानेश्वर, कबीर, सूरदास, मीराबाई आदि अर्वाचीन व्यक्तियों ने पूज्य संतभाव को प्राप्त किया था। अतः यह सिद्ध होता हुआ कि 'सर्व कामनाओं की विनिवृत्ति' ही संत का लक्षण है। तथा जो पुरुष अपनी सम्पूर्ण तृष्णाओं का निःशेषरूप से निवारण करके उस सर्वोच्च, सर्वोत्तम पद पर आरुढ़ है, वही सच्चा संत है जो पुरुष इस संतभाव में पहुँचने के लिये शुद्ध हृदय से साधना करता है, वह भी गौणरूप से संत ही है।

8. संततत्त्व

1. संत वन्दना

आकाशमणि सूर्य पृथ्वी को ऊपर से आलोक प्रदान करता है, किन्तु आप लोग पृथ्वी पर रहकर उस पर ईश्वरीय प्रकाश को प्रसारित करते हैं; अतः हम आपकी वन्दना करते हैं। भगवान् सविता पृथ्वी को ताप प्रदान करते हैं और आप लोग अपने भीतरी खज़ाने में से ज्ञानरूपी अमृत देकर जीवात्मा को सुखरूप उष्णता प्रदान करते हैं। हम जिधर आँख उठाकर देखते हैं, जिस किसी देश में जाते हैं, हम आपके पावन पादपद्मों से आनन्द रूप मकरन्द को निरन्तर झरता हुआ पाते हैं। आपके चरणें में हमारे कोटिशः प्रणाम हैं। इस तापसंतप्त संसार को मुक्तिरूप निरतिशय आनन्द का सन्देश सुनाने वालो! यह पृथ्वी आपकी पावन चरणधूलि के सम्पर्क से ही हमारे रहने योग्य बनी हुई है।

मेसोपोटेमिया और अरब के सूखे रेगिस्तान में से यदि मूसा, ईसा और रसूल जैसे अमृतनिर्झर पैदा न होते तो वहाँ की तप्त बालुका में झुलसने कौन जाता? योरुप के रणक्षेत्र में यदि हमें सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और संत फ्रांसिस जैसी महान् आत्माओं के दर्शन न होते तो वहाँ के लोगों को शान्ति का पाठ कौन पढ़ाता? ब्रह्मज्ञानी लात्शे और महात्मा कनफ्यूशस के नाम को चीन देश अब भी गौरव के साथ स्मरण करता है, और उनके उपदेश उस देश की एक अमर सम्पत्ति है। हमारा पवित्र भारतवर्ष भी शून्य प्रतीत होने लगेगा यदि व्यास-वाल्मीकि, शुदेव-नारद, याज्ञवल्क्य-जनक, वसिष्ठ-दधीचि, बुद्ध, महावीर, शंकर-रामानुज, मध्य-चैतन्य, नानक-कबीर, सूर-तुलसी, नम्मलवार-माणिक वाशगर,

ज्ञानदेव-तुकाराम और ज्ञान-सम्बन्ध-रामकृष्ण प्रभृति संतों को उसके इतिहास में से निकाल दिया जाये। संत ही भारतवर्ष के स्मृतिकार हैं, संत ही उसके कवि हैं, संत ही उसके सन्देशवाहक हैं और संत ही उसकी संतान को प्रेम, ज्ञान और शान्ति का पाठ पढ़ाने वाले हैं।

उन संतों का हमारा बार-बार प्रणाम है। संत ही मानव जाति के प्राण हैं, संत ही संसार रूपी पादप के अमृतफल हैं, संत ही सभ्य समाज को प्रकाश देने वाले प्रदीप हैं। वही पाप-ताप से पीड़ित मानव जाति को ऊपर उठाने वाली शक्ति है। अतः सभी जातियों और सभी देशों के संतों को हम नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

2. संतपूजा

जहाँ कहीं हमारी दृष्टि जाती है हम मानवजाति को किसी-न-किसी संत के चरणों में आबद्ध पाते हैं। पूर्वीय तथा पाश्चात्य सभी जातियाँ अपने-अपने संतों के चरणों में श्रद्धांजति समर्पित करती हैं। शत्रु के खून का प्यासा सिपाही भी सेंट जार्ज की दुहाई देता है और उसी के नारे लगाता हुआ शत्रु सेना पर आक्रमण करता हैं किसी जाति का आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिये संत वर्षा के रूप में प्रकट होते हैं। संतों की वाणी, संतों के बनाये हुए नियम, उनका स्थापित किया हुआ आदर्श और उनके व्यक्तित्व का प्रभाव मनुष्यों को पाश्विकता से अधिकाधिक ऊपर उठाने में जादू का-सा काम करते हैं।

किसी राष्ट्र के स्थूल राजनैतिक जीवन के पीछे भी संत का हाथ रहता है। शिवा जी जैसे वीर को शक्ति और बल प्रदान करना स्वामी रामदास का ही काम था। फ्रांस की उस किसान बालिका जोन-ऑफ-आर्क को अपने देश का मुक्त करने के कार्य में सेंट

माइकेल और सेंट कैथेरिन के उपदेशों से ही ही प्रोत्साहन मिला। वीरशिरोमणि गुरु गोबिन्द सिंह के जीवन पर गुरु नानक के उपदेशों की ही छाप पड़ी थी। महामना सम्राट् अशोक के चरित्र पर भी समस्त एशिया को प्रकाश देने वाले भगवान् बुद्ध का ही प्रभाव पड़ा था। जगत् के कल्याण के लिये सूली पर चढ़ने वाले महात्मा ईसा का ही सारा विश्व सम्मान करता है, राज्य लोलुप सीज़र अथवा नैपोलियन की अदम्य हिंसावृत्ति को चरितार्थ करने वाली तलवार का नहीं। ईसा के मधुर शब्दों ने मानव हृदय पर जैसा आधिपत्य जमाया वैसा किसी भी जगत् विजयी सम्राट् की तोपें और तलवारें नहीं जमा सकीं।

संसार में सबसे बड़ा देश वही है जिसने सबसे अधिक संत पैदा किये हों। और सबसे अधिक उन्नतिशील और समृद्धिशाली जाति वही है जो अपने संतों का आदर करती है और उनके उपदेशों का और आदर्श का अनुसरण करती है। भारतवर्ष के इतिहास का सबसे महान् युग वही था जब उसकी सन्तान—राजा और रंक सभी—अपने प्राचीन महर्षियों का सम्मान करती थी और श्रद्धा एवं आदर के साथ उनके बनाये हुए नियमों का और आचार का पालन करती थी। प्रत्येक आस्तिक हिन्दू अपने को किसी-न-किसी प्राचीन महर्षि की सन्तान मानता है और प्रत्येक धार्मिक कृत्य में अपने गोत्र और प्रवर का स्मरण करता हैं प्रत्येक सच्चा सनातनी दिन में तीन बार अपने ऋषियों का स्मरण करता है और उनकी वन्दना करता है।

सारी हिन्दूजाति एक प्रकार से संतों के पवित्र विचारों में ही पली है। प्रत्येक त्रैवर्णिक हिन्दू नियमपूर्वक वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता है, जो हिन्दूजाति के संतों की ही दिव्य वाणी है। स्नान, सन्ध्या और प्राणायाम आदि से निवृत्त होकर प्रत्येक सनातनी

द्विज गायत्रीमन्त्र का जप करता है, जो एक प्रकार से उसकी जातीय सम्पत्ति है । समस्त जाति को ईश्वरीय ज्ञान का दिव्य आलोक प्रदान करने के लिये ही महान् तपस्वी ऋषि विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र का आविष्कार किया था । इस एक मंत्र में कितना ज्ञान भर दिया गया है ।

'ओंकारवाच्य सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म भूलोक (पृथ्वी मण्डल), भुवर्लोक (अन्तरिक्ष अथवा पितृलोक) और स्वर्लोक (स्वर्गादि सत्यपर्यन्त ऊपर के लोक) सब में व्याप्त है । वह सत्य एवं ज्ञान का परात्पर स्वामी है । वह मारे संकल्पों और कर्मों को दिव्य बनाकर ईश्वरत्व की ओर ले जाता है । हम लोग उसी परमात्मा के तेजोमय रूप का ध्यान करें ।' यह गायत्री मंत्र का अर्थ है ।

परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करने का यही मंत्र है जिसने भारतीय संस्कृति का पोषण किया है । प्रत्येक हिन्दू परमात्म सत्ता के इन तीन मूलमंत्रों से परिचित है—1. ब्रह्मेव सत्यम् (ब्रह्म ही सत्य है) 2. ब्रह्मापर्णम् (ब्रह्म को मेरा सब कुछ अर्पण है) और 3. ब्रह्मैवाहम् (ब्रह्म ही मैं हूँ) । हम लोगों के स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर (मन) है और उसके परे बुद्धि और बुद्धि के भी परे मनुष्य के अन्दर रहने वाला परमात्मा तत्त्व ब्रह्म अथवा आत्मा है । वही मैं हूँ; वही मेरा वास्तविक स्वरूप है; उसी जाज्वल्यमान सत्य के अन्दर मैं अपने आपको हवन करता हूँ । जिस प्रकार एक डाइनेमोसे उत्पन्न हुई बिजली एक टॉकी मशीन की फिल्मों का संचालन करती है उसी प्रकार यह शरीर आत्मा की शक्ति से संचालित होता हैं वह आत्मा ही चरम तत्त्व है और यह जगत् उसी का लीलाक्षेत्र हैं आत्मा की ज्योति से रहित यह चराचर विश्व एक थोथे बिजली के लट्टू के समान है ।

मैं तभी तक जीवित हूँ जब तक वह आत्मा मेरे अन्दर है । उस ब्रह्म को मेरा यह जीवन समर्पित है । सनातनी हिन्दूसमाज इसी

भावना से अनुप्राणित है । इसी भावना से प्रेरित होकर एक आस्तिक हिन्दू भगवान् से दीर्घायु, सुदृढ़ शरीर, मानसिक शक्ति और ईश्वरीय बल की प्रार्थना करता है; इसीलिये वह परमात्मा से बल, वीर्य, तेज, ओज, साहस और वर्चस् की कामना करता है । ईश्वरीय शक्ति का अपने सारे शरीर में संचार करने के लिये वह अंगन्यास और करन्यास आदि करता है । इसीलिये वह ज्ञान, पवित्रता और ईश्वरीय तेज के मूर्तस्वरूप भगवान् सूर्यदेव की उपासना करता है ।

इसीलिये वह शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिये बल ओर वीर्य के अधिष्ठातृ देवता अग्नि की उपासना करता है । वह सर्वतोमुख भगवान् की पूजा के लिये दिशाओं को नमस्कार करता है और ऋषि, महर्षि, आचाग्र, माता-पिता और पितरों का पूजन करता है और उपासना के अन्त में सारे भूतप्राणियों के सुख की प्रार्थना करता है । अहा् ज्ञानसागर वैदिक ऋषियों के द्वारा निर्धारित किया हुआ यह पूजा-प्रार्थना का जीवन कितना सुन्दर और आत्मा को ऊपर उठाने वाला है ।

3. संतगरिमा

आधुनिक मुद्रणालयों से पुस्तकों की नदियाँ बहती हैं ! परन्तु सच्चे ज्ञान और शान्ति के लिये हमें प्राचीन ऋषियों और संत-महात्माओं के उपदेशों का ही श्रवण करना चाहिये । वे लोग समस्त विद्याओं के आचार्य थे । यही नहीं, वे स्वयं पढ़े हुए गुरु, क्रांतदर्शी कवि और कलाओं तथा कलाकारों के जन्मदाता थे । वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, भागवत्, ब्रह्मसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, कल्पसूत्र, मानवधर्मशास्त्र, बाइबल, कुरान, श्रीगुरुग्रंथसाहिब और अन्य धर्मग्रंथ जो आज भी मानवजाति को प्रकाश, आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं, उन्हीं अजर-अमर ऋषियों और संत-महात्माओं की दिव्य वाणियाँ हैं ।

कार्लाइल, इमर्सन और ह्विट्मैन आदि पाश्चात् विद्वान् भी

गीता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं और उसके अमर उपदेशों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। पाश्चात्य देशवासी भारत को एक पवित्र तीर्थ मानकर उसके संतो का दर्शन करने और उनके उपदेशों से लाभ उठाने के लिये इस देश में आते हैं। उन परम निःस्वार्थी और निरहंकारी कर्मयोगियों के आदर्श कर्म, उन एकान्तवासी मुनियों का पवित्र जीवन, उन अरण्यवासी बैखानसों द्वारा प्रसारित दिव्य ज्योति और उन शान्ति के पुजारी संतों के अमृतमय उपदेश अब भी मानव हृदय पर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं और पाप-तापपीड़ित मानवसमाज की रक्षा के लिये कवच का काम करते हैं। ऋषियों के निःश्वास में उस परम और नित्य तत्त्व की गन्ध रहती है।

वर्तमान युग में भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों के सामने सारा संसार सिर झुकाता है। वेदान्त केसरी स्वामी विवेकानन्द के हृदय से उन्हीं की वाणी प्रस्फुटित हुई है। एक सामान्य मन्दिर के पुजारी ने, जो शास्त्र ज्ञान से बिल्कुल कोरा था बल्कि जो आधुनिक दृष्टि से एक प्रकार से निरक्षर ही था, जिसने कभी धातु का स्पर्श नहीं किया और जो कीर्ति से कोसों दूर भागता था, आज वह काम कर दिखाया जो संसार के बड़े से बड़े योद्धा और कर्मवीर मिलकर भी नहीं कर सके। उनकी इस विजय का क्या रहस्य है? कारण यह है कि उन्होंने आत्मा पर विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त संसार पर विजय पाने की कमी इच्छा नहीं की। उन्होंने भगवत्कृपा सम्पत्ति के अतिरिक्त और किसी सम्पत्ति की परवाह नहीं की। उन्होंने अपने को जनाने की परवाह न कर उस एक परमात्मा को जानने की ही चेष्टा की जो एकमात्र जानने की वस्तु है।

आज सारे संसार महाकाली के उस दीन-हीन पुजारी की इसीलिये पूजा करता है कि उसने अपने जीवन को उस महाशक्ति के चरणों में सर्वभावेन समर्पित कर दिया था। आज उस मन्दिर के

पुजारी को हम एक महान् जागृति के जन्मदाता के रूप में देखते हैं। परमात्मा की जो दिव्य ज्योति उसके हृदय मन्दिर में जगमगाती थी वह आज उसके हजारों भक्तों के हृदयों को आलोकित कर रही है। आज हम इस सतय का अनुभव कर रहे हैं कि इस पुण्यभूमि भारत की सच्ची सम्पत्ति और गौरव संत ही हैं और जब तक उसकी पवित्र भूमि में एक संत भी विद्यमान् रहेगा तब तक उसके गौरव की ज्योति कभी फीकी नहीं पड़ सकती। संत, योगी, महात्मा और महर्षि आज भी इस भूमि को अलंकृत कर रहे हैं। उनमें से कुछ को संसार जानता है और कुछ सर्वदा अप्रसिद्ध हैं। उनकी अहंकारशून्य शक्ति ही आज संसार को ध्वंस से बचाये हुए हैं। उनकी सर्वदेशीय आभ्यात्मिक शक्ति—उनकी चैतन्यशक्ति उनका तेज ही चुपचाप मानवजाति का कल्याण कर रहा है। उन संतों की सदा जय हो।

4. संत का ज्ञान

अब प्रश्न यह होता है कि संत को यह अद्‌भुत शान्ति और ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है? क्या यह ज्ञान उसे पुस्तकों क्षरा मिलता है? नहीं, गुलाब को खिलने की शिक्षा नहीं मिलती, कोयल को पंचम स्वर में अलापना कोई सिखाता नहीं। इसी प्रकार संत का ज्ञान भी उसके भीतर जो ज्ञान का स्रोत छिपा हुआ है उसी में से अपने आप फूट निकलता है। वह ज्ञान का स्रोत विशुद्ध और आशा नामक चक्रों में रहता है और गुरु के स्पर्श से, भक्ति की प्रखरता से, ध्यान के दीर्घ अभ्यास से, मंत्र जप से अथवा उस तपस्या से जब ये चक्र खुल जाते हैं तो वह साधक सर्वज्ञान सम्पन्न, अद्‌भुत कवि और दिव्य ज्ञान का आकार बन जाता है।

संसार के बहुत से पैग़म्बर और मसीहे अपढ़ थे। मम्मलवार नामक संत बचपन से ही एक इमली के पेड़ के कोटर में चुपचाप पड़े रहे। वे बरसों निश्चल भाव से ध्यान की गाढ़ स्थिति में रहेख जिसके

फलस्वरूप उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया और उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकने लगा। उनके आध्यात्मिक प्रकाश ने एक बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा को अपनी ओर आकर्षित किया। इनका नाम था मधुर कवि। मधुर कवि ने अइनका शिष्यत्व ग्रहण किया और एक दिन इनसे पूछा कि आत्मा-जैसा सूक्ष्म पदार्थ इस स्थूल शरीर के अन्दर कैसे रहता है।

संत ने समाधि की अवस्था में ही उत्तर दिया कि वह अपनी ही महिमा में सदा स्थित रहता है, किसी दूसरे के आश्रय पर नहीं। उसी समय से मम्मलवार ने अपनी सुन्दर और प्रेमभरी कविता के रूप में उस दिव्य आनन्द का स्रोत बहाया जिसका ये अपने हृदय देश में निरन्तर अनुभव करते थे। जीवात्मा का इस प्रकार परमात्मा के साथ नित्य परिणय हो जाने पर भक्त के हृदय में से ज्ञान का प्रवाह फूट निकलता है। मम्मलवार ने क्या सुन्दर उपदेश दिया है–

'सत्-असत् दोनों उसी के रूप हैं। हे जिज्ञासुओं! तुम उसी को खोजो। अपने क्षुद्र अहंकार और ममकार को त्याग दो। अपने चित्त में से अहंबुद्धि को सर्वथा निकाल दो। अपनी इच्छाशक्ति, विचारशक्ति, वाणी और कर्म का नियंत्रण करो और अपने हृदयस्थित भगवन् के अन्दर एकीभाव से स्थिर हो जाओ। यह जीवन विद्युत् प्रकाश के समान क्षणस्थायी है। परमात्मा ही एकमात्र नित्य वस्तु है। हे जिज्ञासुओं! सारी आसक्तियों का परित्याग कर नारायण के चरणों की शरण ग्रहण करो। स्थावर-जंगम सभी मेरे प्रभु के ही स्वरूप हैं। तुम लोग उसी का गुणगान करो, प्रेम रूपी दिव्य सुमन से उसी की पूजा करो। उसी के नाम का कीर्तन करो।

उसकी कृपा से तुम्हारे सारे दुःख दूर होंगे, उसकी कृपा का कवच धारण किये रहने पर कलियुग तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। उसकी भक्ति के प्रचार से तुम इस घोर कलिकाल में भी सत्ययुग का साम्राज्य स्थापित कर सकोगे। और

यह भातभूमि पुनः श्रीकृष्ण और उनके लीलासहचरों की लीलाभूमि बन जायेगी ।'

5. भक्तसंत

गीता कहती है कि जो ब्रह्मभूत हो जाते हैं उनकी आत्मा निर्मल हो जाती है । उन्हें ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु का चिन्तन नहीं होता और न उन्हें परमात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की आकांक्षा ही रह जाती है । उनका समस्त भूतों में और सारी परिस्थितियों में समभाव हो जाता है और आत्मज्ञान की उसी चरम अवस्था में ज्ञानी को पराभक्ति की प्राप्ति होती है । ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने के बाद भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस 'हरि, गोविन्द, गोपाल, राम, कृष्ण, ॐ, माँ काली' आदि भगवान् के दिव्य नामों का उच्च सवर से कीर्तन किया करते थे और भक्तों के साथ आवेश में आकर नाचने लगते थे । संत का हृदय भगवान् का मन्दिर बन जाता है ।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे । जब निमाई पण्डित श्रीकृष्ण चैतन्य के नाम से विख्यात हुए तो उन्हें यह अनुभव हुआ कि समस्त विद्याओं के सार श्रीकृष्ण हैं । 'कृष्ण' इस एक नाम से उन्होंने सैकड़ों आश्चर्य कर दिखाये । श्रीकृष्ण के नाम से जो अलौकिक मुख सुख है उसके सामने पुस्तकीय ज्ञान निरे अभिमान को सूचित करता है । उन्होंने देश भर में श्रीकृष्ण के प्रेम की नदी बहा दी और हरिनाम का कीर्तन करते हुए और प्रेम में मस्त होकर नाचते हुए सारे तीर्थों का पर्यटन किया ।

एक बार जब ये दक्षिण भारत की यात्रा कर रहे थे तो कई छोटे-छोटे बालक उनके प्रेम से आकर्षित होकर 'हरि, हरि' बोलते हुए उनके पीछे दौड़ने लगे । यह देखकर उनमें से एक बालक का पिता क्रोध के आवेश में आकर उनसे कहने लगा—'अरे पागल संन्यासी ! तुम मेरे इस अबोध बालक को अपनी ही भाँति पागल बनाया चाहते हो ? अच्छी बात है, यहाँ तुम्हारी अच्छी तरह खबर ली

जायेगी ।' महाप्रभु ने कहा—'कोई बात नहीं, तुम मुझे जितना चाहो मारो, परन्तु हरि का नाम उच्चारण करते जाओ ।' इस उत्तर को सुनकर वह बड़ा लज्जित हुआ, वह महाप्रभु के चरणों में गिर पड़ा और उसी दिन से उनका भक्त हो गया ।

इस प्रकार संत अपने प्रेम के बल से कठोर-से-कठोर मनुष्य को भी सहृदय बना लेते हैं । हम सब इस बात को जानते हैं कि यवन हरिदास को डिगाने के लिये दुष्टों ने जिस वेश्या को उनके पीछे लगाया था उसका वह गंदा विचार उनके दर्शनमात्र से दूर हो गया और वह उनके मन्त्र जप की शक्ति से सदा के लिये उनकी भक्त बन गयी । चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को गले लगाकर उनके बहुत दिनों के चर्मरोग को कुछ ही क्षण में दूर कर दिया । भक्त संत अपने भगवान् को सर्वत्र देखते हैं और सर्वथा अहंकारशून्य होकर सबके रूप में उन्हीं की सेवा करते हैं श्रीरामानुजाचार्य को उनके गुरुदेव श्रीलनाम्बि महाराज ने अष्टाक्षर मंत्र की दीक्षा दी थी । दीक्षा देते समय गुरु ने उन्हें सावधान कर दिया था कि वे किसी हालत में इस मंत्र को दूसरे के सामने प्रकट न करें ।

परन्तु दुःखी जीवों के प्रति दयापरवश हो उन्होंने उस मंत्र को मन्दिर के शिखर पर से सब को सुना दिया । इस पर उनके गुरु बहुत बिगड़े और उनसे कहा कि तुम्हें इस महान् अपराध के बदले नरक भोगना पड़ेगा । रामानुज गुरु के इस वचन को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि यदि मेरे नरक जाने से इतने मनुष्य नरक के त्रास से बच सकते हैं तो मुझे नरक का वास स्वर्ग से भी बढ़कर सुखकर प्रतीत होगा । उनके इस उत्तर को सुनकर गुरु बड़े प्रसन्न हुए और अपने महानुभाव शिष्य की समदर्शिता की बड़ी प्रशंसा करने लगे । इससे यह सिद्ध होता है कि संत लोग अपने लिये नहीं बल्कि दूसरों के लिये ही जीते हैं ।

9. संतों की समाधि

आत्मानुभव की चरम अवस्था में, जब नीचे के आधार खुल जाते हैं और आधारशक्ति सहस्रारचक्र में परमशिव के साथ मिल जाती है तब साधक आत्मस्थिति के परम आनन्द में डूब जाता है, वह ब्रह्मभूत हो जाता है। वह मौन होकर अपने भीतर के सहस्रदल कमल का आसव पीकर सदा के लिये छक जाता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये ओठों से एक शब्द भी निकालना भारी हो जाता ह। संत के मुख का तेजोमण्डल ही जादू का काम करता है। स्वामी सदाशिव ब्रह्म इसी प्रकार के एक संत थे। वे वैराग्य के आवेश में बचपन में ही घर से निकल पड़े और कुम्भकोणम् मठ के अधिपति स्वामी श्रीपरमशिवेन्द्र सरस्वती के चरणों में बैठकर उन्होंने वेदान्त का अध्ययन किया।

वहाँ रहकर उन्होंने सुन्दर वेदान्त सम्बन्धी कीर्तनों की रचना की जिनका आज भी दूर-दूर तक प्रचार है, और आत्मानुभूति विषयक कई पद्यग्रन्थ भी रचे। निमाई पण्डित की भाँति वे उस मठ में आने वाले बड़े-बड़े पण्डितों से शास्त्रार्थ में भिड़ जाते थे और सदाशिव के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ता था। इस पर पण्डितों ने उनके गुरुजी से कहा कि 'सदाशिव बड़े डीठ हो गये हैं और उन्हें लोगों से शास्त्रार्थ करने और उन्हें छकाने में बड़ा मजा आता है।' इस पर गुरुजी ने उन्हें एक दिन बड़े जोर से डाँटकर कहा– 'सदाशिव! आज से तुम मौन हो जाओ' गुरुजी की यह बात सदाशिव को लग गई। उन्होंने सोचा–'बात तो ठीक है, सत्य का आधार वाणी नहीं है, सत्य तो मौन में ही है।' यह कहकर उस ज्ञानी महात्मा ने वाणी के साथ-साथ और सब वस्तुओं का भी परित्याग कर दिया।

उसी दिन से वे अवधूतवेश में आत्मस्थित होकर गूंगे की भाँति विचरने लगे। लोगों ने अब भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने सदाशिव के गुरुजी से जाकर फिर शिकायत की कि सदाशिव पागल हो गये हैं। इस पर गुरुजी ने कहा—'यह तो बड़े सौभाग्य की बात है, मैं स्वयं उस दिन की बड़ी उत्सुकता के साथ बाट देख रहा हूँ जब मैं भी सदाशिव की भाँति पागल हो जाऊँगा।' सदाशिवेन्द अब समाधि में ही रहने लगे और कावेरी नदी के तट पर जंगल में महीनों एक आसन से बैठे रहते। एक बार वे इसी प्रकार कोडुमुड़ी (सीर) नामक स्थान के निकट कावेरी के वाल्लुकामय पुलिन में समाधिस्थ होकर बैठे थे कि अचानक नदी में बाढ़ आ गई और वे उसी में बह गये। लोगों ने उनको खोजा परन्तु उनका कहीं भी पता नहीं चला। बाढ़ का पानी उतर जाने के कुछ दिन बाद एक आदमी नदी में से बालू निकाल रहा था तो उसे अपनी कुदाल में कुछ रुधिर लगा हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

उसने आसपास के लोगों को एकत्र किया और मिट्टी हटाने पर लोगों ने देखा कि यहाँ सदाशिवेन्द्र समाधि लगाये हुए बैठे हैं। कई बार लोगों ने उन्हें एक ही समय में कई स्थानों में देखा। अभी वे यहाँ बच्चों के साथ खेल रहे हैं तो उसी समय दूसरे स्थान में लोग उन्हें समाधि लगाये बैठा पाते हैं। वे बड़े-बड़े असाध्य रोगों को स्पर्शमात्र से दूर कर दिया करते थे। दृष्टिमात्र से वे लोगों की हृदयग्रन्थि को खोल देते थे और अधिकारी मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान में परिनिष्ठित कर दिया करते थे। मूर्खलोग उनहें बहुत सताया करते थे। एक बार किसी मनुष्य उन्हें नग्न देखकर बड़ा क्रोध आया और उसने क्रोध के आवेश में इनका एक हाथ काट दिया। महात्मा ने इसकी कुछ भी परवाह नहीं की और उसी प्रकार मस्त होकर वे वहाँ से चल दिये।

अब तो जिस मनुष्य ने उनका हाथ काटा था उसे अपनी करनी पर बड़ा पश्चाताप हुआ । उसने सोचा, ये तो कोई महात्मा हैं और दौड़कर उनके चरणों में लोट गया और उनसे क्षमा की भीख माँगने लगा । महात्मा ने इशारे से उसे पूछा–'मामला क्या है?' उस मनुष्य ने कहा, 'महाराज! मैं बड़ा पापी हूँ, मैंने आपका हाथ काट डाला है ।' महात्मा ने कहा–'अच्छा, यह बात है?' यों कहकर उन्होंने अपने दूसरे हाथ से अपने कटे हुए हाथ को टटोला तो उसके स्पर्श से ही उनका घाव अच्छा हो गया । इन्हीं महात्मा ने पुदुकोट्टा राजधानी के राजा विजय रघुनाथ को उपदेश दिया था और इनके आशीर्वाद से ही राजा की सारी समस्याएँ हल हो गयी थीं । सदाशिव ब्रह्म की पुदुकोट्टा राज्य में अब भी पूजा होती है और उनके नाम पर राज्य की ओर से बहुत दान-पुण्य होता है । वे बहुत काल तक जीवित रहे । उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया और अन्त में जो दिन उन्होंने पहले से ही लोगों को बता रखा था उसी दिन नैरूर नामक ग्राम में महासमाधि ले ली ।

संत द्वारा बताये गये सुख के उपाय

1. नित्य प्रातःकाल प्रभु स्मरण करने में क्या धन खर्च करना पड़ता है?
2. हर एक प्रसंग में विनयपूर्वक बर्ताव करने में क्या धन खर्च करने की आवश्यकता होती है?
3. अपने से व्यवहार करने वाले हर एक व्यक्ति के साथ क्रोधरहित प्रेम से बातें करने में क्या धन की जरूरत पड़ती है?
4. प्रतिकूल प्रसंगों में न घबराकर धैर्य रखने में क्या धन की आवश्यकता होती है?

5. अपने परिचय में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को विधिपूर्वक आदर देने में क्या रुपयों की जरूरत पड़ती है ?
6. अपनी स्त्री की ओर सम्मान की दृष्टि से देखने में क्या धन की आवश्यकता पड़ती है ?
7. किसी के पुकारने पर उत्तर में 'जी' कहने में क्या धन की जरूरत होती है ?
8. माता-पिता की आज्ञा का पालन करने में क्या धन की जरूरत पड़ती है ?
9. हर समय व्यावहारिक कार्य करते हुए भी प्रभु स्मरण करने में क्या रुपयों की आवश्यकता पड़ती है ?
10. हर एक प्रसंग में सत्य बोलने में क्या धनकी आवश्यकता है ?
11. अपना चरित्र सुधारकर आध्यात्मिक उन्नति के लिये उपाये करने में क्या धन की आवश्यकता होती है ?
12. विचार-शक्ति की नित्य वृद्धि करने में क्या धन की आवश्यकता पड़ती है ?
13. अमुक काम को मैं करके ही रहूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करने में क्या धन की आवश्यकता होती है ?
14. ज्ञानी पुरुषों का संग करके उनके उत्तम गुणों का अनुकरण करने में क्या धन को आवश्यकता होती है ?
15. नित्य खुली हवा में घूमकर अपनी आरोग्यता बढ़ाने का प्राकृतिक उपाय करने में क्या धन खर्च होता है ?
16. आत्मा में स्थित अखण्ड आनन्द का अनुभव करने में क्या धन चाहिये ?
17. नित्य एक घंटा उत्तम पुस्तकें पढ़ने में क्या धन खर्च करना पड़ता है ?

18. हर समय, हर एक स्थिति में सन्तोष मानकर सुख प्राप्त करने में क्या धन की आवश्यकता होती है ?

19. प्रारब्ध को दोष न देकर प्रयत्नशील बनने में क्या धन व्यय करना पड़ता है ?

प्रिय पाठको ! उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर यदि 'ना' में हो तो 'धन बिना सुख कहाँ' इस मिथ्यावाद को छोड़कर अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये ऊपर बताते हुए प्राकृतिक उपायों को काम में लाने का निश्चय कीजिये । केवल धन से ही सुख प्राप्त है ऐसा कभी न मानिये । यदि धन से ही सुख मिल सकता होता तो प्रभु सचमुच ही अन्यायी होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं हैं तात्त्विक दृष्टि से तो इसके विपरीत धन ही दुःख का कारण हो जाता है । अत्यंत धनी और वैभवपूर्ण पुरुष को पूछने पर पता लगेगा कि उसकी अपार धन उसको सुख की प्राप्ति करवाने में असमर्थ है । मन की स्थिर वृत्ति को कवल सन्तोष ही सुख का परिचय देने वाला हैं वह यदि हमारे पास हो तो हम सबकी अपेक्षा अधिक धनी हैं, इस प्रकार समझना चाहिये । संसार के मिथ्या प्रलोभनों से न ललचा कर केवल सत्य का ही पालन कीजिये और प्रत्येक वस्तु में प्रभु को देखना सीखिये । तभी व्यक्ति सुखमय, शांतमय एवं आनंदमय जीवन व्यतीत कर सकता है ।

10. संतों के जीवन के प्रेरक प्रसंग

1. श्रेष्ठ संत

संत पुरंदर की सादगी और निर्लिप्तता की बड़ी चर्चा थी । विजयानगर के राजा कृष्णदेव राय ने उनकी परीक्षा लेनी चाही । एक दिन उन्हें भिक्षा हेतु बुलाया व उन्हें चावल दिये । प्रार्थना की कि वे रोज इसी तरह आ जाया करें । संत तो संतहृदय होते हैं । वे रोज आने लगे । छोटे-छोटे हीरे-माणिक्य उन चावलों में मिले हैं, यह

उनकी पत्नी सरस्वती ने देखा। कहा, ''पहले दिन तो सब ठीक था। अब कल से इसमें न जाने क्या कंकड़ आदि मिले हैं।'' पति ने देखा, मुस्कुराए और दोनों ने उन्हें कचरे के ढेर के पास फैंक दिया। सप्ताह भर भिक्षा लाने, हीरे मिश्रित होने व कूड़े के ढेर पर फैंकने का सिलसिला चलता रहा। एक दिन राजा व मंत्री स्वयं अपनी आँखों से देखने संत की कुटिया पर पहुँचे। देखा सरस्वती देवी चावल बीन रही हैं। हीरे फैंकती जा रही है। कृष्णदेव राय वेश बदले हुए थे। पूछा, ''बहन! यह क्या कर रही है।'' वे बोलीं, ''कुछ दिनों से कोई गृहस्थ इन्हें शिक्षा में कंकड़ दे देता है। मैं बीनती हूँ। भिक्षा देने वले का मन न दुखे इसलिये ये भी भिक्षा ले आते हैं।'' उन्होंने कहा, ''यह कंकड़ नहीं, हीरे हैं।'' वे बोलीं, ''आपके लिए होंगे, हमारे जीवन का आधार तो भगवान् हैं। आप इन्हें बटोर ले जाइए।'' नतमस्तक होकर राजा वहाँ से गए। उन्हें लगा कि पुरंदर को संत श्रेष्ठ ऐसे ही नहीं कहा जाता।

2. उत्तम व्यक्ति कौन है?

एक बार की बात है। गौतम बुद्ध अपने कुछ शिष्यों के साथ किसी शहर में प्रवास कर रहे थे। जब उनके शिष्य शहर घूमने निकले तो लोगों ने उन्हें बहुत बुरा-भला कहा। वे क्रोध में बुद्ध के पास लौटे। बुद्ध ने पूछा, ''क्या बात है, आप सब तनाव में क्यों हैं?'' उनका एक शिष्य बोला, ''हमें यहाँ से तुरन्त प्रस्थान कर देना चाहिये। क्योंकि वहाँ रहना उचित नहीं है, जहाँ हमारा आदर न हो। यहाँ तो लोग दुर्व्यवहार के सिवाय कुछ जानते ही नहीं। इस पर बुद्ध मुस्करा कर बोले, क्या किसी और जगह पर तुम सद्व्यवहार की अपेक्षा करते हो?

दूसरा शिष्य बोला, ''कम से कम यहाँ से तो भले लोग ही होंगे।' बुद्ध बोले, 'किसी स्थान को केवल इसलिये छोड़ना गलत है

कि वहाँ के लोग दुव्यर्वहार करते हैं। हम तो संत हैं। हमें ऐसा करना चाहिए कि उस स्थान को तब तक न छोड़ें जब तक वहाँ के हर व्यक्ति के व्यवहार को सुधार न डालें। वे हमारे अच्छा व्यवहार करने पर 100 बार दुर्व्यवहार करेंगे लेकिन कब तक? आखिर उन्हें सुधरना ही होगा और उत्तम प्राणी बनने का प्रयास करना ही होगा। संभवतः संतों का वास्तविक कर्म तो ऐसे ही लोगों को सुधारने का है।''

असली चुनौती तो विपरीत परिस्थितियों में स्वयं को साबित करना ही होती है। तब बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद ने पूछा, उत्तम व्यक्ति कौन होता है? इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया, 'जिस प्रकार युद्ध की ओर बढ़ता हुआ हाथी चारों ओर के तीर सहते हुए भी आगे चलता जाता है, ठीक उसी तरह उत्तम व्यक्ति भी दुष्टों के अपशब्द सहन करते हुए अपना कार्य करता चलता है। स्वयं को वश में करने वाले प्राणी से उत्तम कोई हो ही नहीं सकता।' शिष्यों ने उस शहर से जाने का इरादा त्याग दिया। इसका परिणाम हुआ कि दुर्व्यवहार सद्व्यवहार से बदल गया।

3. संत का प्रभाव

गुलामी के दिनों में एक मस्त मौला संत हुए। वह हर समय प्रभु के स्मरण में ही लगे रहते थे। एक बार की बात है, वह घूमते-घूमते किसी जंगल से गुजर रहे थे, तभी गुलामों के कारोबारियों के एक गिरोह की निगाह संत पर पड़ी। गिरोह के सरगना ने संत का स्वस्थ शरीर देखा तो सोचा कि इस व्यक्ति की तो खूब अच्छी कीमत मिल सकती है। उसने मन ही मन तय कर लिया कि उन्हें पकड़ कर बेच दिया जाये। बस फिर क्या था, उसके इशारे

पर गिरोह के सदस्यों ने संत को घेर लिया। संत ने कोई विरोध नहीं किया। गिरोह के सदस्यों ने जब संत को बांधा तब भी संत चुप्पी साधे रहे। संत की चुप्पी देख कर एक आदमी से रहा नहीं गया, उसने पूछा, ''हम तुम्हें गुलाम बना रहे हैं और तुम शांत हो। हमारा विरोध क्यों नहीं कर रहे?'' संत ने उत्तर दिया, ''मैं तो जन्मजात मालिक हूँ। कोई मुझे गुलाम नहीं बना सकता। मैं क्यों चिन्ता करूँ।''

गिरोह के सदस्य संत को गुलामों के बाज़ार में ले गए और आवाज़ लगाई, ''एक हट्टा-कट्टा इन्सान लायें हैं। किसी को गुलाम की जरूरत हो तो बोली लगाओ।'' यह सुनकर संत ने उससे भी अधिक जोर से आवाज़ लगाई, ''यदि किसी को मालिक की जरूरत हो तो मुझे खरीद लो। मैं अपनी इन्द्रियों का मालिक हूँ। गुलाम तो वे हैं जो इंद्रियों के पीछे भागते हैं और शरीर को ही सब कुछ समझते हैं।'' संत की आवाज़ उधर से गुजर रहे कुछ लोगों ने सुनी। वे समझ गए कि यह पुकारने वाला अवश्य ही कोई आत्मज्ञानी व्यक्ति है। वे सभी भक्त संत के चरणों में झुक गए। भक्तों की भीड़ देखकर गिरोह के सदस्य घबरा गए और संत को वहीं छोड़कर भागने लगे। भक्तों ने उन्हें पकड़ लिया परन्तु संत ने उन्हें छोड़ देने को कहा। गिरोह के सरगना ने संत से माफी मांगी और अपना धंधा छोड़ देने का संकल्प किया।

4. साधारण-सी कुटिया

एक संत को अपना भव्य आश्रम बनाने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी। वह अपने शिष्य को साथ लेकर धन जुटाने के लिए लोगों के पास गए। घूमते-घूमते वह सूफी संत राबिया की

कुटिया में पहुँचे। राबिया की कुटिया साधारण थी। वहाँ किसी तरह की सुविधा नहीं थी। फिर भी रात हो गई तो संत वहीं ठहर गये।

राबिया ने उनके लिया खाना बनाया। खाने के पश्चात् संत के सोने के लिए राबिया ने एक तख्त पर दरी बिछा दी और तकिया दे दिया। स्वयं वह जमीन पर एक टाट बिछाकर लेट गई। थोड़ी ही देर में राबिया गहरी नींद में सो गई। लेकिन संत को नींद नहीं आ रही थी। वह दरी पर सोने के आदी नहीं थे। वह हमेशा मोटे गद्दे पर सोते थे। संत सोचने लगे कि जमीन पर टाट बिछा कर सोने के बावजूद राबिया को गहरी नींद आ गई और उन्हें तख्त पर दरी के बिछोने पर भी नींद क्यों नहीं आई। यह बात उन्हें देर तक मथती रही। सुबह जल्दी उठकर राबिया ने अपने हाथ से कुटिया की सफाई की और चिड़ियों को दाना खिलाया। संत ने पूछा, ''राबिया तुमने मेरे लिए अच्छा बिछोना बिछाया। फिर भी मुझे नींद नहीं आई जबकि तुम्हें जमीन पर गहरी नींद आ गई। इसका कारण क्या है? राबिया बोली, ''गुरुदेव जब मैं सोती हूँ तो मुझे पता नहीं होती कि मेरी पीठ के नीचे गद्दा है या टाट। उस समय मुझे दिन भर के किए गए सत्कर्मों का स्मरण करके ऐसा अद्‌भुत आनंद मिलता है कि मैं सुख-दुःख सब भूल कर परमपिता की गोद में सो जाती हूँ। इसलिए मुझे गहरी नींद आती है।

संत ने कहा, ''मैं अपने सुख के लिए धन एकत्रित करने निकला था। यहाँ आकर मुझे मालूम हुआ कि संसार का सुख भव्य आश्रम में नहीं बल्कि इस कुटिया में है।'' फिर उन्होंने सारा एकत्रित धन ग़रीबों में बाँट दिया और एक सामान्य-सी कुटिया में रहने लगे।

5. धर्म हमारे अन्दर ही छिपा हुआ है

यूनानी तत्त्ववेता डायोजनीज से किसी अजनबी व्यक्ति ने पूछा, ''धर्म क्या है?'' डायोजनीज ने कहा, ''ऐसे धर्म की व्याख्या कैसे की जा सकती है?'' अजनबी ने कहा, ''मैं बहुत जल्दी में हूँ इसलिए आप 5 मिनट में धर्म की व्याख्या कर दीजिए।'' डायोजनीज बोला, ''तुम जल्दी में हो, वैसे मैं भी जल्दी में हूँ। इतने कम समय में धर्म को समझना मुश्किल है। ऐसा करो तुम अपना पता मुझे लिखकर दे दो तो मैं धर्म की लिखित व्याख्या तुम तक पहुँचा दूँगा।''

अजनबी व्यक्ति ने काग़ज़ और पैन निकाला, अपना पता लिखा और दे दिया। डायोजनीज ने पूछा, ''यह तुम्हारा स्थायी पता है? इस जगह को छोड़कर तुम कहीं जाते तो नहीं हो?'' अजनबी बोला, कभी-कभी बाहर चला जाता हूँ। ऐसा करता हूँ कि मैं वहाँ का पता भी आपको दे देता हूँ।'' डायोजनीज ने कहा, ''यह मामला अस्थिरता का नहीं, स्थिरता का है। तुम जहाँ स्थायी रूप से रहते हो वहाँ का पता मिले बिना मैं तुमसे पत्र व्यवहार नहीं कर सकता। तुम मुझे उस जगह का पता बताओ जहाँ तुम सदा रहते हो।'' डायोजनीज के बार-बार एक ही बात कहने पर अजनबी झल्ला उठा। वह अपने दोनों हाथ झटकते हुए बोला, मैं यहाँ रहता हूँ। कुछ बताना है तो बताओ वर्ना चले जाओ।'' डायोजनीज ने मुस्कुराकर कहा, ''बस यही तो धर्म है। धर्म का अर्थ है अपने आप में रहना। आत्मचिंतन करना, अपने आपको पहचानना। बस यही

व्याख्या है धर्म की । आज हर कोई धर्म की बात कर रहा है । धर्म के नाम पर लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं । असहिष्णुता का माहौल बना हुआ है कर्मकांड को धर्म का दर्जा दे दिया गया है, परन्तु वास्तविक धर्म हमारे अन्दर ही छिपा हुआ है । जिस दिन हमने इस बात को समझ लिया धर्म का वास्तविक रूप हमारे समक्ष प्रकट हो जाएगा ।''

6. ऐसे थे संत नामदेव

नामदेव एक बालक घर के बाहर खेल रहा था कि उसकी माँ ने उसे बुलाया और कहा, 'बेटा अमुक वृक्ष की छाल उतार लाओ एक आवश्यक दवा बनानी है ।' माँ का आदेश मिलते ही बालक जल चला गया । जंगल में उसने चाकू से पेड़ की छाल खुरची और उसे लेकर वापस आने लगा । मगर उसमें से रस टपकता जा रहा था । बालक का स्वभाव बचपन से ही सत्संगी था । जंगल से लौटते हुए रास्ते में उसे एक संत मिले । नामदेव ने उन्हें झुककर प्रणाम किया ।

संत ने पूछा, 'हाथ में यह क्या है नामदेव ? नामदेव ने उत्तर दिया, 'दवा बनाने के लिए पेड़ की छाल ले जा रहा हूँ ।' संत बोले, 'क्या तुमको पता नहीं कि हरे पेड़ को क्षति पहुँचाना अधर्म है, वृक्षों में भी जीवन होता है । इन्हें देवता मानकर पूजा जाता है । वैद्य जब इनकी पत्तियाँ तोड़ते हैं तो पहले हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि दूसरों के प्राण बचाने के उद्देश्य से आपको कष्ट दे रहा हूँ । यह हमारी संस्कृति का विधान है ।' संत के वचनों ने नामदेव पर गहरा प्रभाव डाला ।

गहरी सोच में डूबा नामदेव घर पहुँचा । उसने छाल माँ को दे दी और कमरे के एक कोने में बैठकर चाकू से अपने पैर की खाल छीलने लगा । जब पैर से खून बहते देखा तो माँ घबराते हुए बोली, 'क्या बावला हो गया है, यह क्या कर रहा है?' बालक बोला, 'संत जी ने कहा था कि पेड़ों में जीवन होता है । मैं पैर की खाल उतार कर यह समझने की कोशिश कर रहा था कि जब मैं पेड़ की छाल उतार रहा था तब पेड़ को कितना दर्द हुआ होगा ।'

माँ ने बेटे को छाती से लगा लिया । वह समझ गई कि सत्संगी विचारों में आकार यह संत बन गया है । आगे चलकर यही बालक पर नामदेव के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उन्होंने कण-कण में भगवान् के दर्शन किये । पेड़ तो पेड़ चींटी को भी कोई क्षति नहीं पहुँचे, वह इसका सदा ध्यान रखते थे ।

7. सत्कर्मों से शांति

प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशिस उपदेश दिया करते थे कि मानव को जीवन के हर विषय का अनुभव करना चाहिये । अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयास करते रहना चाहिये । निराशा को कभी पास नहीं फटकने देना चाहिये । अपना कुछ समय तथा धन दीन-दुःखियों की सहायता में अवश्य लगाना चाहिये ।

एक दिन उनका एक शिष्य उनके पास पहुँचा । उसने कहा, ''महात्मन् मैं वर्षों से आपका सत्संग कर रहा हूँ । आपके असंख्य उपदेश मैंने सुने हैं । फिर भी मेरा मन अशांत रहता है । मैं शान्ति कैसे प्राप्त करूँ? कोई आजमाया हुआ उपाय बताइए?''

संत ने पूछा, ''क्या तुम जीवन में आने वाले कष्टों का

सामना करने का तरीका जान चुके हो । क्या मेरे उपदेशों पर अमल कर चुके हो ?''

उसने उत्तर दिया, ''ऐसा नहीं हो पाया है । मैंने आनंद का जीवन जिया ही नहीं है । मैं तो सांसारिक साधनों को अपने से दूर रखता आया हूँ ।''

संत कन्फ्यूशिस ने कहा,''जिसने मानव जीवन पाकर भी कर्म नहीं किया, परिवार तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया उसे इस जीवन में तो क्या, मृत्यु के पश्चात् भी शांति नहीं मिल सकती । मनुष्य के सत्कर्म और उसका कर्त्तव्य पालन ही उसके मन को संतुष्टि प्रदान करते हैं । अतः शान्ति की सनक से दूर रहकर कर्म करते रहो । स्वतः शान्ति मिल जायेगी ।''

8. जीवन दर्शन

बात संत रज्जब की है, जो हर समय प्रभु की याद में खोए रहते थे । जो भी उनसे मिलता बाद में वह अपने सारे अवगुण त्यागकर सादा-सरल जीवन जीने लगता था । वे जो कहते थे लोग उनका पालन करते थे । उन्हीं के गाँव में मुहम्मद जुँबरे नाम का एक युवा था । वह कुसंग में पड़कर अपराधी बन चुका था । उसे जुआ खेलना, शराब पीना और लोगों को परेशान करना पसंद था । एक दिन जुबरे ज्यादा शराब पीने के कारण एक नाली में गिर गया । उसी समय उधर से संत रज्जब निकले । उन्होंने उसे उठाया और उसका मुँह धोया । यह देखकर वहाँ कई लोग जमा हो गए ।

संत रज्जब ने कहा– जिस मुँह से ईश्वर का पवित्र नाम लेना चाहिए, उससे शराब पीकर गालियां बकते फिरना गुनाह है । इतना

कह कर वे वहाँ से चले गये । कुछ देर बाद जुबेर को होश आया, तो लोगों ने उसे बताया कि संत रज्जब ने उसे नाली से उठाया था और उसका मुँह धोया था । जुबेर आश्चर्यचकित था । तभी किसी ने कहा—संत रज्जब यह भी कह रहे थे कि जिस मुँह से अल्लाह का नाम लेना चाहिए उससे अपशब्द नहीं कहना चाहिये । यह गुनाह है । यह सुनकर जुबेर सोच में पड़ गया । आखिर में उसने कहा— मेरे जिस मुँह को संत ने धोया है, उससे अब कभी गुनाह नहीं होंगे । उसके बाद जुबेर ने सादा जीवन अपना लिया ।

सार यह है कि जब हम चाहेंगे जीवन की दिशा बदल जाएगी, संतों का मार्गदर्शन तो सदा सुलभ है ही । संत रास्ता दिखा सकते हैं लेकिन उस पर चलना व्यक्ति के स्वयं के कर्मों से ही संभव है, बशर्ते व्यक्ति यदि सचेत रहे कि कोई उसका मार्गदर्शक बनकर उसे राह दिखा रहा है और उस राह पर चलने में उसी का हित है । उस राह को अपनाने या न अपनाने से मार्गदर्शक को कोई फर्क नहीं पड़ेगा ।

9. संत दाण्डयायन

संत दाण्ड्यायन ने सिकंदर के महामंत्री को क्या कहा था—

सिकन्दर जिन भौतिक इच्छाओं का गुलाम है, हमने उन्हें जीत लिया है । सिकंदर यदि सम्राट् है तो हम परिव्राट् हैं । सिकंदर को हमारी चाह है हमें सिकंदर की चाह नहीं । उसे आवश्यकता है तो हमारी कुटी पर आये । हम उसके राज्य महल पर क्यों जायें ।''

—दादा पोते की बातें पृष्ठ 64

यह है उचित उत्तर सच्चे संत का जोकि बिरले ही होते हैं ।

10. संत ज्ञानेश्वर एवं चाँगदेव

संत ज्ञानेश्वर महाराज आत्मविद्या में निपुण थे और चाँगदेव लौकिक विद्या पढ़कर योग विद्या सीखें। चाँगदेव ने ध्यान लगाकर देखा कि धरती पर कौन ऐसा महात्मा है जो उसे आत्मविद्या प्रदान कर सके। परन्तु उन्हें ऐसा कोई भी महापुरुष नजर नहीं आया क्योंकि ब्रह्म विद्या का ज्ञाता इस धरा पर कभी-कभी होता है। इस कारण वे योग के द्वारा शरीर बदलते रहे। इस प्रकार उनकी आयु 1400 वर्ष की हो गई। तो संत ज्ञानेश्वर महाराज पृथ्वी पर अवतरित हुये जोकि आत्मविद्या दे सकते थे।

इसलिये चाँगदेव शेर पर बैठकर विषधर का चाबुक बन कर अपने 1000 से भी अधिक चुने हुए शिष्यों को साथ लेकर पूना के पास आलंदी की ओर संत ज्ञानेश्वर महाराज से मिलने चले। उस समय गुरु की आयु 22 वर्ष की और शिष्य की आयु 1400 वर्ष की थी। यह सब आत्मविद्या की महिमा है।

इसी प्रकार संत अष्टावक्र महाराज ने केवल 12 वर्ष की आयु में महाराजा जनक जिनकी आयु उस समय 60 वर्ष की थी आत्म विद्या का ज्ञान दिया था।

लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेंर-ओ-शायरी

लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक उपनिषद्वाणी
2. वैदिक दर्शनवाणी
3. वैदिक महाभारत
4. वैदिक गीता
5. अमर धर्मग्रंथ
6. अमर नीतिग्रंथ
7. पुराणपरिचय
8. ईश्वरसिद्धि
9. राष्ट्रभाषा हिन्दी
10. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
11. महावीर हनुमान
12. योगिराज श्रीकृष्ण
13. आदिशंकराचार्य
14. आचार्य चाणक्य
15. दस गुरु
16. आर्यसमाज के महामानव
17. स्वामी रामतीर्थ
18. संस्कार
19. गीतांजलि
20. आर्यसमाज
21. ओ३म्
22. गायत्रीरहस्य
23. ज्ञानामृत
24. यज्ञ
25. संत
26. संतवाणी
27. सामान्य हिन्दी (भाग I-II)
    (सब कक्षाओं के लिये)
28. **Great Thoughts**
29. **General English (Part I to V)**
    (For All Classes)